

ॐ

परमात्मने नमः

पथ-प्रकाश

संपादक

पूज्य भाईश्री शशीभाई

भावनगर



प्रकाशक

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट,

भावनगर-३६४००१

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

□ वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

५८०, जूनी माणेकवाड़ी,

भावनगर-३६४००१

फोन : (०२७८) २४२३२०७ / २५१५००५

□ गुरु गौरव

श्री कुन्दकुन्दकहान जैन साहित्य केन्द्र,

पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ़

□ श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान जैन ट्रस्ट

विमलांचल, हरिनगर, अलीगढ़

फोन : (०५७१) ४१००१०/११/१२

□ श्री खीमजीभाई गंगर (मुंबई) : (०२२) २६१६१५९१

श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाटा) : (०३३) २४७५२६९७

अमी अग्रवाल (अहमदाबाद) : (०७९) R-२५४५०४९२, ९३७७१४८९६३

प्रथमावृत्ति प्रत : १०००

द्वितीयावृत्ति : प्रत : ५०० (दि. ३१-१२-०७, कुंदकुंदाचार्यदेव
आचार्यपदवी दिन)

पृष्ठ संख्या : ४ + १८८ = १९२

लागत मूल्य : ४०/-

विक्री मूल्य : ३०/-

टाईप सेटिंग :

पूजा इम्प्रेसन्स

प्लोट नं. १९२४-बी,

६, शान्तिनाथ बंगलोझ

शशीप्रभु मार्ग, रुपाणी सर्कल के पास

भावनगर-३६४००१

फोन : (०२७८) २५६१७४९

मुद्रक :

भगवती ऑफसेट

१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड

वारडोलपूरा,

अहमदाबाद

फोन : ९८२५३२६२०२

प्रकाशकीय (द्वितीयावृत्ति)

प्रवर्तमान काल में सत् श्रुतरूप, पूर्वाचार्यों के अनेक परमागम एवम् पीछले दोसौ-तीनसौ साल में हुए ज्ञानियों द्वारा रचित ग्रन्थ उपलब्ध हैं। सामान्यतः ग्रन्थ रचयिता, धार्मिक समाज-संप्रदाय में उत्पन्न विकृतिओं को लक्ष्य में रखकर, स्वयं की रचना में, उस काल की जरूरत का विषय समझकर, तदनुसरूप ग्रन्थ रचना करते हैं। उसमें प्रायः परिचय में आनेवाले मुमुक्षु आत्माओं की और समाज की तत्त्व-ग्रहण शक्ति के स्तर के अनुपात में सहजरूप ही स्पष्टता होती है। जैसे कि इस पंचमकाल की शुरुआत में द्रव्यश्रुत प्रायः मुखपाठ स्मरण में - धारणा में रहता था। तत्पश्चात् आचार्यों ने धारणा शक्ति क्षीण होती देखकर, उस ज्ञान को ग्रंथारूढ़ किया; उसमें भी प्रथम संक्षेप में मात्र सूत्र रचना हुई, उसे समझने की क्षमता-योग्यता कम होती देखकर, सूत्र-ग्रन्थों पर टीकाओं की रचना हुई। इसप्रकार काल के प्रवाह में, यह निम्न कोटि का काल होने के कारण सत् के निरूपण में स्पष्टता की आवश्यकता अधिकतर दिखने लगी, जैसे जैसे धर्मात्माओं स्वयं के स्वानुभव को व्यक्त करने, सहज कारुण्यवृत्ति से प्रेरित हुए और स्पष्टीकरण अधिक हुआ।

यद्यपि सांप्रत समाज में धर्म प्राप्ति के इच्छुक जीवों की योग्यता देखकर महान परमागमों का अध्ययन करके उसमें से सीधा आत्महित का रहस्य अपनेआप निकाल सके वैसा प्रायः दिखने में नहीं आता। अतः परमागमों की गाथा और टीकाओं पर प्रवचन और प्रश्नचर्चा द्वारा, पारमार्थिक रहस्य का उद्घाटन अनेक प्रभावक स्वानुभवी धर्मात्माओं द्वारा होता रहा और इस तरह अखण्ड मोक्षमार्ग आज पर्यंत जीवंत रहा है। आसन्न भव्य भाग्यशाली जीवों के सौभाग्य से

इसी कारण से पीछले वर्षों में अनेक प्रभावशाली सत्पुरुष हुए, जिन्होंने सन्मार्ग प्राप्ति के गंभीर और रहस्यभूत विषय पर अनेक पहलुओं से प्रकाश डाला है।

प्रस्तुत 'पथ-प्रकाश' ग्रन्थ में, परम कृपालु सदगुरुदेवश्री 'कानजीस्वामी', कृपालुदेव 'श्रीमद् राजचंद्रजी', प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री 'चंपाबहन' और आत्मज्ञ सत्पुरुष पूज्य 'निहालचंद्रजी सोगानी' के वचनों का संग्रह है। इस संग्रह का संकलन उक्त ज्ञानियों के वचनों में रहा (एक खास विषय) - 'मार्गदर्शन' सम्बन्धित है।

यद्यपि उनके वचनों में उपलब्ध साहित्य में अनेक प्रयोजनभूत विषय प्रकाशित हुए हैं, जिसमें मुमुक्षु की यथार्थ भूमिका, आत्मार्थिता, पात्रता विषयक विविध पहलू, भेदज्ञान, दृष्टि का विषय, मार्गदर्शन, देवमहिमा, गुरुमहिमा, श्रुतमहिमा, स्वानुभूतिमहिमा, स्वरूपप्राप्ति की विधि, पुरुषार्थ का स्वरूप, निश्चय-व्यवहार, साधकदशा का वर्णन, मुनिदशा का वर्णन, मिथ्या अभिप्राय की भयंकरता, सिद्धांतिक निरूपण (आगम-अध्यात्म से) इत्यादि विषयों का समावेश होता है। उसमें से यह संकलन - 'मार्गदर्शन' का विषय अलग छँटकर प्रकाशित किया है।

मुमुक्षु की भूमिका में ज्ञानीपुरुष के मार्गदर्शन की अत्यंत आवश्यकता है और तदर्थ प्रत्यक्ष समागम जैसा दूसरा और कोई साधन नहीं है। परन्तु वह तथाप्रकार के पुण्योदय के अधीन है, फिर भी वह मुमुक्षु की भावना का विषय है। मुमुक्षु की भूमिका, अत्यंत नाजुक स्थिति की है और उसमें गिरने के, रुकने के, उन्मार्ग में चढ़ जाने के बहुत स्थान - भयस्थानों को जानना प्रयोजनभूत है और अनेक पहलुओं से समाधान होने अर्थ मार्गदर्शन की आवश्यकता है। ऐसे आशय - लक्ष्य से यह संकलन हुआ है। यदि जिज्ञासुओं को पसंद आयेगा तो उपरोक्त विभिन्न विषयों का संकलन प्रसिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे।

वर्तमान में परम प्रभावक आध्यात्मिक क्रांतिकार पूज्य गुरुदेवश्री

कानजीस्वामी ने उक्त प्रयोजनभूत विषयों पर विशद् प्रवचन किये हैं, जो कि स्पष्टकीरण की दृष्टि से अभूतपूर्व है और वर्तमान एवं भावी मुमुक्षु समाज पर अनुपम उपकारभूत है। उनके प्रत्यक्ष समागम की कृपा के फलस्वरूप यह ट्रस्ट और शास्त्र प्रकाशन की प्रवृत्ति हो रही है। उनके वचनों में प्रत्येक कोटि के मुमुक्षुओं को मार्गदर्शन मिल जाये, ऐसी अनेक बातें स्पष्ट हुई हैं।

तदुपरान्त धन्यावतार प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री 'चंपाबहन' के 'वचनामृत' ग्रन्थमें से भी बहुत-बहुत मार्गदर्शन मिलता है, यह उनका अनुपम उपहार है।

ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिये 'पूजा इम्प्रेसन्स' के और सुंदर मुद्रणकार्य के लिये मे. 'भगवती ऑफसेट' के आभारी हैं।

अंततः संकलित सत्पुरुषों के वचनामृत द्वारा मुमुक्षुओं आत्महित के मार्ग में विकास को प्राप्त हों ऐसी भावना है।

दि. ३१-१२-२००७
(कुंदकुंदाचार्य आचार्य
पदवी दिन)

ट्रस्टीगण
वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

ज्ञानकी भूल दो प्रकारसे हुई है, अनादिसे, एक जानने सम्बन्धित और दूसरी अनुभव सम्बन्धित। भूल अर्थात् विपरीतता।

जाननेकी भूल प्रायः तत्त्व-अभ्याससे मिटती है, तब जीव गृहीत मिथ्यात्वसे मुक्त होता है। तत्त्वका अभ्यास द्रव्यश्रुत द्वारा होने पर (आत्महितके लक्षसे) दर्शनमोह अवश्य मंद पड़ता है, और तब बुद्धिपूर्वक हुई समझकी विपरीतता टलती है। इसके बाद भेदज्ञानके प्रयोग द्वारा यदि मिथ्या अनुभवकी भूल टले तो अपूर्व कल्याणकारी सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है।

अज्ञान अवस्थामें जीव आत्माका तिरस्कार करनेवाले मोह-रागादि भाव और इसके फलरूप शरीरादि परद्रव्योंके साथ घनिष्ट मैत्री - प्रेमपूर्वक एकत्वबुद्धिसे (उसका) अपनेरूप अनुभव करता है। फिर भी वे आत्मारूप नहीं होते। वास्तविक ज्ञानवेदन द्वारा स्वभावकी पहचान करके, स्वभावके लक्षसे भेदज्ञानका पुरुषार्थ होवे, तो ज्ञानमें अन्यभाव - अन्यद्रव्यके मिथ्या अनुभवरूप अध्यासका त्याग होकर, ज्ञान और विभावका स्वाद भिन्न मालूम होने पर अनुभवकी भूल मिटती है। और ज्ञानानुभूतिरूप आत्मानुभूति प्रगट होकर भवभ्रमणका नाश होता है। अतः ऐसा सिद्ध हुआ कि 'अनुभूतिका मूल भेदविज्ञान है।

- पूज्य 'भाईश्री' ('अनुभव संजीवनी' - ७४१)

हे परमकृपालु गुरुदेव ! आप के गुणों की क्या महिमा करूँ ! आप के उपकारों का क्या वर्णन करूँ ! असली स्वरूप के ज्ञान के दातार अपूर्व महिमा के धारक श्री गुरुदेव के चरणकमल की सेवा-भक्ति निरंतर हृदय में बसी रहे, परम-परम-उपकारी श्री गुरुदेव के चरणकमल में इस सेवक के वारंवार भावभीगी भक्ति से कोटि कोटि वंदन हो, नमस्कार हो। - पूज्य बहिनश्री

‘मैं ज्ञानमात्र हूँ

□

सुखधाम अनंत सुसंत चही,
दिनरात रहे तद्ध्यान महीं;
प्रशांति अनंत सुधामय जे,
प्रणमुं पद ते वरते जयते.

□

पावन मधुर अद्भुत अहो ! गुरुवदनथी अमृत झर्या,
श्रवणो मळ्यां सद्भाग्यथी नित्ये अहो ! चिद्रस भर्या.
गुरुदेव तारणहारथी आत्मार्थी भवसागर तर्या,
गुणमूर्तिना गुणगणतणां स्मरणो हृदयमां रमी रह्यां.

□

हुं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदर्शनमय खरे;
कंई अन्य ते मारुं जरी, परमाणुमात्र नथी अरे.

□

सहजात्मस्वरूप सर्वज्ञदेव परमगुरु

□

श्री वीतरागाय नमः

❖ पथ-प्रकाश ❖

(सत्पुरुषो के वचामृतोमें से उद्धृत रत्न)

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः



[श्री परमागमसार' में से उद्धृत रत्न]

भाई ! तुझे सम्यक् (प्रकार) देखना हो तो तू भगवान स्वरूप है, इसका स्वीकार कर। मिथ्यात्व राग-द्वेष के काल में भी जैसा इसका परमार्थ स्वरूप है उस रीती से देखे तो शक्तिरूप से परमात्मस्वरूप ही विराजमान है। २४.



जब कोई तीव्र प्रतिकूलता आ पडे, कोई अतिकठोर, मर्मछेदक वचन कहे तो त्वरा से देह में स्थित परमानंद स्वरूप परमात्मा का ध्यान कर देह का लक्ष छोड़ देना, समताभाव रखना। ३८.



अज्ञानी सुख को तो इच्छता है परंतु उसे सच्चे सुख के उपाय का भान ही नहीं। ज्ञान नहीं है इसलिये दुःख के उपाय को ही सुख जान-जानकर दुःख में डूब मरता है। अहा ! सुख के सच्चे उपाय के भान बिना सुख नहीं मिलता इसलिये सुखी होनेके इच्छुक को सुख का सच्चा उपाय क्या है, यह जानना परमावश्यक

है। ४९.



तेरे स्वभाव के अतिरिक्त भाई ! तुझे अन्यत्र कहीं मिठास रह गई होगी तो यह तुझे चैतन्य की मिठास लेने नहीं देगी। पर की मिठास तुझे चैतन्य की मिठास (लेने में) विघ्न करेगी। इसलिये हे भाई ! विवेकपूर्वक पर की मिठास छोड़। ५६.



राग का राग करनेवाले को, पुण्य का राग करनेवाले को, स्त्री-पुत्रादि से राग करनेवाले को चैतन्य से प्रेम नहीं - वह चैतन्य का खूनी है। मायाजाल का प्रेमी शुद्ध स्वरूपी भगवान का खूनी है। तेरे चैतन्य के खजाने को देखने से तुझे यह लगेगा कि तूँ शुभाशुभरूप खाली खजाने में पड़ा है। भाई ! तुझे मनुष्यपना मिला है न ? जो तूँ तेरे आत्मा को अनुभवे तो मनुष्यपना मिला कहलाए, अन्यथा मनुष्यरूप में पशु-समान है। ५९.



प्रश्न :- वांचन-श्रवण-मनन करने पर भी आत्मा का अनुभव क्यों नहीं होता ?

उत्तर :- वांचन आदि तो सभी बहिर्मुख है और आत्मवस्तु पूरी अंतर्मुख है इसलिये इसे अंतर्मुख होना चाहिये। पर को जाननेवाला उपयोग स्थूल है, उसे सूक्ष्म कर अंतर्मुख करना है। अंतर की गहराई में जाये तो अनुभव हो। 'ज्ञायक ज्ञायक...ज्ञायक...ज्ञायक हूँ, ध्रुव हूँ' ऐसे अंतर में संस्कार डाले तो आत्मलक्ष होकर अनुभव होगा ही। ६६.



करोड़ो रूपये खर्चे, मंदिर बनवाए, आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करे,

पर ये तो शुभराग हैं। शुभराग है - वह क्लेश है, दुःख है, आडंबर है। ऐसे आडंबर करो तो करो, परंतु सर्वज्ञ वीतराग देव ने जैसा आत्मा बतलाया है, उसकी प्राप्ति तो इनसे नहीं होगी। धर्म के नाम पर यह शुभ राग का ही रस है। परंतु ऐसे राग के रस द्वारा वीतराग स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। ७३.



जिसे सुखी होना है उसे कहते हैं कि जो शुद्ध चैतन्य वस्तु है वह सर्वांग ज्ञान से भरी हुई है, उस ओर सन्मुख होना ही सुखी होने का मार्ग है - वही धर्म है। सर्वांगज्ञान से परिपूर्ण चैतन्यवस्तु में स्थिर होते शुद्धता होती है, और अशुद्धता का नाश होता है - इसका नाम स्वयं का हित अर्थात् कल्याण है। ७७.



प्रश्न :- अंतरमार्ग बहुत कठिन लगता है ?

उत्तर :- अंतरमार्ग कठिन नहीं है - सहज है, आसान है, सरल है, कठिन तो वह है जो हो न सके। लाखों प्रयत्न करने पर भी परमाणु आत्मा का नहीं होता, इसकारण यह कार्य कठिन कहलाता है, परंतु आत्ममार्ग तो अंतरप्रयत्न से प्राप्त होता है। इसलिए जिससे जो हो सके वह उसका सरल एवं सहज कार्य है, केवल अनभ्यास से कठिन लगता है। ८३.



प्रश्न :- स्वरूप का अनुभव तो हुआ नहीं और शुभ को हेय जाने तो क्या स्वच्छंदी न हो जायेगा ?

उत्तर :- शुभराग को हेय जानने से शुभराग नहीं छूटता है। स्वभाव का माहात्म्य भासित होने पर शुभराग का माहात्म्य छूट जाता है, परंतु शुभराग नहीं छूटता। शुभराग तो भूमिका अनुसार,

अपने कालक्रम में हुए बिना नहीं रहेंगे। वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा यथार्थ ज्ञान करने से स्वच्छंदता नहीं हो सकती। ८४.



प्रश्न :- ज्ञान का स्वभाव जानना ही है तो स्वयं स्वयं को कैसे नहीं जानता ?

उत्तर :- इसका स्वभाव स्वयं को जानने का है, परंतु अज्ञानी की दृष्टि परसन्मुख है, इसलिये स्वयं को नहीं जानता। पर में कहीं न कहीं अधिकता रहती ही है, इसलिये अन्य को अधिक मानने से स्वयं को नहीं जानता। इसका अधिकता का बल पर में जाता है, जिससे स्वयं जानने में नहीं आता। ९९.



तूँ पहले चारित्र-दोष टालने का प्रयत्न करता है। पर उसके पूर्व दर्शनशुद्धि का प्रयत्न कर। दृष्टि में विकल्प का त्याग तो करता नहीं और बाह्य त्याग कर बैठता है - यह तो मिथ्यात्व के ही पोषण का कारण है। ९९.



आकुलतावाले-सुख से भी शरीर की व्याधि भूल जाते हैं, तो अनाकुल-सुख से जगत कैसे न भूला जाए ? अर्थात् आत्मा के स्वाभाविक सुख द्वारा संसार के चाहे जैसे घोर दुःख भी भूले जाते हैं। ११०.



प्रथम पर्याय का लक्ष्य छूड़वाकर, पश्चात् गुण-गुणी के भेद का लक्ष्य छूड़वाया है। क्रम डालकर समझाने के सिवाय अन्य किस रीति से समजायें ? इसलिए कहते हैं कि पर्याय को अंतरमुखी कर और साथ में जो गुण-गुणी के भेद हैं, उनका तिरोधान कर

दे, अदृश्य कर दे, ढक दे - ऐसा कहा जाता है। वस्तु जो द्रव्य है, याने कि चेतन ऐसा द्रव्य और चैतन्य उसके गुण - ऐसे भेद को ढककर एक अभेद को लक्ष्य में ले। यह तो तीन लोक के नाथ की दिव्यवाणी है। अनंतकाल में जो नहीं किया उसे करने के लिए यह है। १३४.



प्रथम द्रव्य-गुण-पर्याय को जानें। प्रारंभ में भेद आदि के विकल्प होते हैं, परंतु बाद में एक सूक्ष्म विषयी पर्याय को संक्षिप्त करते हैं और गुण-गुणी के भेद को अंतरलीन कर देते हैं। संक्षिप्त करना - इसका अर्थ क्या ? - कि पर्याय का लक्ष्य छोड़कर अनंत-अनंत गुणों को जो पी गया है, ऐसे द्रव्य को ध्येय बनाकर केवल आत्मा को ही जानने से प्रतिक्षण मलिनता का नाश होता है, वीतरागता प्रकट होती है। मलिनता का क्षय होता जाता है। - करना पड़ता है, ऐसा नहीं कहा, क्योंकि वह प्रतिक्षण स्वतः नाश को प्राप्त होती है। १३६.



शंका :- तो फिर हम शास्त्र पढ़े या नहीं ?

समाधान :- आत्मलक्ष्य से शास्त्र पढ़ना - ऐसा 'प्रवचनसार' में कहा है, क्योंकि शास्त्रों का कहना ऐसा है कि भगवान आत्मा सच्चिदानंद प्रभु शाश्वत आनंद की मूर्ति है - उसका ज्ञान करना, अनुभव करना। करणानुयोग या चरणानुयोग के पढ़ने से लाभ क्या ? - कि उन चारों अनुयोगों के पढ़ने का गुण तो आत्म-अनुभव प्राप्त करना है - यही शास्त्र पढ़ने का लाभ है अर्थात् "आत्म-अनुभव करना ही शास्त्राभ्यास का तात्पर्य है।" १५१.



आनंदरसकंद प्रभु के आस्वादन बिना अशुद्धभाव नहीं छूटते और अशुद्ध संस्कार छूटे बिना स्वरूप का अनुभव नहीं होता। राग से एकता के संस्कार छूटे बिना शुद्ध स्वरूप का अनुभव नहीं होता और शुद्धस्वरूप का अनुभव हुए बिना राग से एकता के संस्कार नहीं छूटते। महिमावंत प्रभु की ऐसी महिमा भासित हुए बिना तुच्छता और पामरता के संस्कार नहीं छूटते और तुच्छता तथा पामरता के संस्कार छूटे बिना महिमावंत प्रभु की महत्ता भासित नहीं होती। अतः अशुद्धता का व्यय एवं शुद्धता की उत्पत्ति का एक ही काल है। १६७.



स्वयं अंतर में नहीं उतर पाता, इसका कोई कारण तो होना चाहिए न ? अनंत गुणयुक्त अपार महिमावंत प्रभु है, उसकी अनुभूति न होने का कोई कारण तो होगा न ? - या तो पर का अभिमान या राग का अभिमान या स्वयं कहाँ अटका है उसकी अनभिज्ञता आदि कारणों से अंतर में नहीं उतर पाता। १६८.



एक ओर ज्ञान-सिंधु है व दूसरी ओर भव-सिंधु है - जहाँ रूचे वहाँ जा। १७९.



बाहर की विपदा - यह वास्तविक विपदा नहीं। बाहर की संपदा - यह संपदा नहीं है। चैतन्य का विस्मरण ही घोर विपदा है, चैतन्य का स्मरण (संवेदन) ही वास्तव में सच्ची संपदा है। १९१.



अल्प किन्तु सत्य ग्रहण करे तो उतने में तो केवलज्ञान प्रकट करने की शक्ति है। बहुत किन्तु विपरीत ग्रहण करे तो उसमें

तो निगोद के अनंत भव होने की शक्ति हैं। १९५.



कोई क्रोध में तन्मय हो और कहे कि मैं क्रोध का ज्ञाता हूँ, तो यह गलत है - क्योंकि वह तो क्रोध में तन्मय है (क्रोध का) ज्ञाता नहीं। जो ज्ञान में तन्मय है वही क्रोध के परिणाम का ज्ञाता है। १९६.



कागज पर चित्रित दीपक-तिनकों को जलाता नहीं, उसी प्रकार केवल शास्त्रज्ञान संसार (वन) को नहीं जला सकता। २०५.



'अभिप्राय' - यह तो जीव का जीवन हो जाता है - उसका घर बन जाता है। अभिप्राय-परिवर्तन तो उसे जीवन-परिवर्तन सा लगता है। २१४.



जिसने बाहर में किसी राग में - 'संयोग में - क्षेत्र में व ऐसे ही कहीं न कहीं या किसी द्रव्य में - क्षेत्र में - काल में, कुछ ठीक सा मानकर, वहाँ रुककर समय गंवाया है - उसने अपनी आत्मा को ठग लिया है।' २१६.



पुण्य से आत्मा प्राप्त होती है - यह तो आत्मा को गाली देना है। इसे प्राप्त करने का साधन तो इसके अंतर में ही निहित है, यह कोई पंगु तो है नहीं। २२५.



जगत सुख का इच्छुक है, परंतु सुख के कारण को नहीं जानता। संसारी जीव लेशमात्र भी दुःख नहीं चाहते पर दुःख के

कारण में ही लीन रहते हैं। २३०.



जिनके सिर पर जन्म-मरण रूपी तलवार लटक रही है - फिर भी जो संयोगों में खुशी मानते हैं, वे पागल हैं। २३३.



जो विचक्षणता आत्मा को दुःख से मुक्त न करे - यह विचक्षणता ही क्या ? २३९.



शुभराग की मिठास जीव को मार डालती है और परसत्तावलंबी ज्ञान की मिठास भी जीव को मार डालती है। २४१.



हे भगवान ! आपने जो चैतन्यभंडार खोल दिया है - उसके सामने कौन ऐसा होगा कि जिसको चक्रवर्ती का वैभव भी तृणवत् न लगे ? आहा ! अंतर-अवलोकन में तो अमृतरस झरता है और बाह्य अवलोकन में तो विष सा अनुभव होता है। २४४.



जिन्हें अशुभ के फल में द्वेष है, उन्होंने अशुभ भाव को हेय माना ही नहीं। शुभभाव के फल में जिन्हें गुदगुदी होती है और मिठास लगती है - उनहोंने शुभभाव को हेय माना ही नहीं। २४५.



यदि ब्रह्मचर्य आदि व्रत ले, वस्त्रादि छोड़े तो उसे ऐसा लगता है कि मैं धर्ममार्ग में कुछ आगे बढ़ा हूँ, परंतु आत्मभान-बिना उसने उल्टे शल्य की ही वृद्धि की है - मिथ्यात्व की पुष्टि की है। २४६.



राग को जानने से ज्ञान मलिन नहीं होता, पर राग को अपना मानने से ज्ञान मलिन होता है। 'राग मेरा है' - ऐसा मानने वाला अपने जीव का घात करता है और 'राग मेरा नहीं' - ऐसा मानने वाला अपने जीव की रक्षा करता है। २४९.



पुण्य-पुण्य करके अज्ञानी पुण्य की मिठास का आस्वादन करता है परंतु पुण्य की मिठास तो उसका खून करती है। मिथ्यात्व-भाव तो कसाईखाना है। मिथ्यात्व का पाप सात व्यसन से भी अनंतगुणा (भयंकर) है, उसका पोषण करनेवाले तो कसाईखाने खोलते हैं। २५०.



पर्याय-दृष्टि वाले जीव दया-दान, पूजा-भक्ति, यात्रा, प्रभावना आदि अनेक प्रकार के शुभभावों के कर्ता होकर, अन्य की अपेक्षा 'मैं कुछ अधिक हूँ' ऐसा अहंकार करते हुए, मिथ्यात्व भाव को दृढ़ करते हैं और निश्चय स्वरूप मोक्ष-मार्ग को लेशमात्र भी नहीं जानते। २५१.



प्रश्न :- तत्त्व का श्रवण-मनन करने पर भी सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता ?

उत्तर :- सचमुच तो अंतर में राग के दुःख से थकान लगी ही नहीं, अतः विश्राम का-शांति का स्थान हाथ ही नहीं आता। वास्तव में अंतर से दुःख से थकान लगे तो अंतर में उतरने पर विश्राम का स्थान हाथ लगे। सत्य के शोधक को सत्य न मिले - यह संभव ही नहीं। २५२.



भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप से विराजमान है उसे अतीन्द्रिय ज्ञान से जाना जाता है, पर वह इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। ज्ञायक आत्मा लिंगों द्वारा अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जानने का कार्य नहीं करता। जो इन्द्रियों द्वारा जानने का कार्य करे वह आत्मा नहीं है। इन्द्रियाँ अनात्मा है, इसलिए जो उनके द्वारा जानने का कार्य करे - वह ज्ञान ही अनात्मा है। शास्त्र-श्रवण द्वारा जो ज्ञान होता है उस ज्ञान को आत्मा नहीं कहते हैं। शास्त्र-श्रवण करते हुए खयाल आता है कि "ऐसा कहते हैं" - ऐसा जो ज्ञान होता है उसे इन्द्रिय द्वारा हुआ होनेसे आत्मा नहीं कहते। २५५.



आत्मा अतीन्द्रिय-ज्ञानमय है, इन्द्रिय-ज्ञानमय नहीं। इन्द्रियों द्वारा शास्त्र-वांचन और श्रवण से हुआ ज्ञान अतीन्द्रिय-ज्ञान नहीं, आत्मज्ञान नहीं, वह तो खंडखंड ज्ञान है। ११ अंग और ९ पूर्व का ज्ञान परसत्तावलंबी-ज्ञान है, वह बंध का कारण है। यहाँ परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि प्रभु ! एक बार सुन; आत्मा को अतीन्द्रिय ज्ञान से ही जानना होता है, इन्द्रिय ज्ञान से जानना - सो आत्मा नहीं है। २५६.



जिन्हें इन्द्रियज्ञान का रस चढ़ा है - उन्हें अतीन्द्रिय-ज्ञान नहीं होता। २५७.



डॉ. गांगुली :- व्रत-तप-त्याग करने से आत्मा के ऊपर का छालरूपी मैल निकल जाता है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- नहीं, यह तो राग है। इन व्रत-तप आदि के राग को अपना मानना - यह तो मिथ्यात्व है - अपराध है -

भ्रमणा है।

डॉ. गांगुली :- तो साधारण जीवों को तो ये व्रतादि करना ठीक है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- नहीं, साधारण जीवों को भी इन व्रतादि से धर्म नहीं, इनसे जन्म-मरण का अंत आने वाला नहीं, इनमें लाभ-बुद्धि से तो जन्म-मरण बढ़ते हैं। २६१.



प्रश्न :- आत्मा पर मैं तो कोई हेर-फेर नहीं कर सकता - यह तो ठीक है पर क्या स्वयं की पर्यायों में भी हेर-फेर करना उसके अधीन नहीं ?

उत्तर :- अरे भाई ! जहाँ द्रव्य का निर्णय किया वहाँ वर्तमान पर्याय स्वयं ही द्रव्य में समाहित हो गई तो फिर तुझे किसे बदलना है ? जब पर्याय द्रव्य में अंतर्मुख हो गई तब यह पर्याय क्रमशः निर्मलरूप ही परिणत होती रहती है और शांति बढ़ती जाती है। इस प्रकार पर्याय ही जब द्रव्य में अंतर्मग्न हो गई तब उसे बदलने की बात कैसी ? वह पर्याय स्वयं ही द्रव्य के आधीन आ गई है।

पर्याय आएगी ही कहाँ से ? - द्रव्यमें से - अतः जब संपूर्ण द्रव्य को ही वश में कर लिया है, (श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार कर लिया) तब पर्याय वश में आ ही गई; तात्पर्य यह है कि द्रव्य के आश्रय से पर्याय सम्यक् और निर्मल रूप से ही परिणमित होने लगी। जब स्वभाव निर्णित हुआ तब ही मिथ्याज्ञान का नाश होकर सम्यक्ज्ञान हुआ, मिथ्याश्रद्धा पलट कर सम्यक्दर्शन हुआ। इस प्रकार पर्याय निर्मल होने लगी - यह भी वस्तु का धर्म है। वस्तुस्वभाव बदला नहीं और पर्यायों की क्रम-धारा टूटी नहीं। द्रव्य के ऐसे-

ऐसे स्वभाव की स्वीकृति में ही पर्याय की निर्मल धारा का जन्म हुआ और ज्ञानादिरूप अनंत पुरुषार्थ उसीमें समाविष्ट है।

स्व या पर - जब किसी द्रव्य, किसी गुण व किसी पर्याय में हेर-फेर करने की बुद्धि न रही तब ज्ञान-ज्ञान में ही जम गया, अर्थात् मात्र वीतरागी ज्ञाता-भाव ही रह गया - ऐसे साधक को अल्पकाल में मुक्ति होगी ही। बस ! ज्ञान में ज्ञातादृष्टा रूप रहना - यही स्वरूप है - यही सब का सार है। यह अंतर रहस्य जिसके खयाल में न आए उसे कहीं न कहीं, पर में अथवा पर्याय में - हेर-फेर करने की बुद्धि बनी रहती है। ज्ञाता-भाव से च्युत होकर कहीं भी हेर-फेर करने की बुद्धि मिथ्याबुद्धि है। २६३.



अलिंगग्रहण के २० वें बोल में कहा है कि जो ध्रुव का स्पर्श नहीं करती ऐसी शुद्ध पर्याय ही आत्मा है, वहाँ वेदन की अपेक्षा ऐसा कहा है, क्योंकि आनंद का वेदन परिणति में है। त्रिकाली का वेदन नहीं होता, इसकारण ऐसा कहते हैं कि जो वेदन में आया वह मैं हूँ। जहाँ जो आशय हो वहाँ वैसा ही समझना चाहिए। यहाँ सम्यग्दर्शन की बात है। सम्यग्दर्शन का विषय जो त्रिकाली-ध्रुव सामान्य है, एक वही सर्व तत्त्वों का सार है। यह वस्तु स्वयं ध्रुव है, उस पर दृष्टि जाने पर ही सम्यग्दर्शन होता है। २६७.



मैं अभेद हूँ। "निर्विकल्प अहम्" ऐसा एक पाठ है। मुझमें विकल्प - भेद नहीं है - यह तो नास्ति का कथन है, अतः ऐसा न लेकर यूँ कहा कि मैं निर्विकल्प हूँ, मैं उदासीन हूँ। आहाहा ! ऐसी वस्तु समझने के लिए सभी आग्रह छोड़ने चाहिए। "हम जानते हैं"- ऐसा भी अभिमान छोड़ना होगा। मैं उदासीन हूँ - मेरी बैठक तो ध्रुव

में हे - मेरा आसन ध्रुव है - मैं पर से तो उदास हूँ ही - पर्याय से भी उदास हूँ। २६९.



प्रश्न :- "प्रवचनसार" में शुद्धनय से विकार को जीव का कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :- विकार तो जीव के स्वयं के द्वारा ही हुआ है। वह स्वयं का अपराधरूपी कार्य है। पर कर्म से (पुद्गल से) विकार नहीं हुआ यह बतलाने के लिए ही विकार को शुद्धनय से (अशुद्ध निश्चयनय से) जीव का कहा है। २७३.



दो नय परस्पर विरोधी हैं। जो वे एकरूप हों तो नय दो नहीं रह जाते। व्यवहारनय नहीं है - ऐसा नहीं। पर व्यवहार से लाभ हो तो निश्चयनय नहीं रहता। पानी गरम होता है, उसमें अग्नि निमित्त नहीं - ऐसा नहीं है, परंतु निमित्त से उपादान में कार्य हो तो उपादान नहीं रहता। निश्चय के साथ व्यवहार नहीं होता - ऐसा नहीं है, परंतु व्यवहार से निश्चय हो तो निश्चय नहीं रहता। उपादान के कार्यकाल में निमित्त होता है, परंतु निमित्त से उपादान में कार्य नहीं होता - ऐसी वस्तु की स्थिति है। २७४.



प्रश्न :- आप ध्रुवस्वभाव में उपयोग ले जाने को बारंबार कहते हैं, पर ध्रुव स्वभाव देखा हो तो उपयोग ले जाए न ?

उत्तर :- ध्रुवस्वभाव की ओर लक्ष्य करे तब पर्याय में ध्रुवस्वभाव दिखे न ! लक्ष्य किए बिना कैसे दिखे, जो ध्रुवस्वभाव की ओर लक्ष्य न करे तो उसे कैसे दिखाई दे ? अंतर में यथार्थ लक्ष्य करे तो उसे ध्रुवस्वभाव दर्शित होगा ही। पर्याय के पीछे द्रव्यस्वभाव

विद्यमान है - वहाँ दृष्टि करे तो ध्रुव स्वभाव दर्शित होता ही है।

२७५.



प्रश्न :- पर के लक्ष्य से आत्मा में जाना नहीं होता, पर शास्त्र पढ़ने से तो आत्मा में जाना होता है न ?

उत्तर :- शास्त्र पढ़ने के विकल्प से भी आत्मा में नहीं जा सकते।

प्रश्न :- तो शास्त्र नहीं पढ़े न ?

उत्तर :- आत्मलक्ष्य से शास्त्र का अभ्यास करना - ऐसा 'प्रवचनसार' में कहा है और 'समयसार' की पहली गाथा में आचार्यदेव ने कहा है कि 'तेरी पर्याय में सिद्धों की स्थापना करके पढ़'। इसका अर्थ यह है कि तूँ सिद्ध स्वरूप है - ऐसी श्रद्धाप्रतीति करके पढ़। जिसने सिद्ध स्वरूप में दृष्टि जमाई है, उसको सुनते और पढ़ते हुए भी निजस्वरूप में एकाग्रता की वृद्धि होगी। २७७.



स्वसमय और परसमय के साथ वाद-विवाद करना योग्य नहीं। तूँ तेरे आत्मा का अनुभव कर। पर के साथ वाद-विवाद में पड़ना ठीक नहीं। निधान प्राप्त कर, निज वतन में जाकर, उसे भोगने की सीख है अतः निज-निधि को प्राप्त कर के अकेले भोगना ही श्रेयस्कर है। २९०.



प्रश्न :- सम्यक्-सन्मुख जीव तत्त्व के विचार काल में राग को अपना जानता है या पुद्गल का ?

उत्तर :- सम्यक्-सन्मुख जीव राग को अपना अपराध मानता है। और अंतर में उतरने के लिए 'राग मेरा स्वरूप नहीं, रागरूप

मैं नहीं - ऐसा जानकर उनका लक्ष्य छोड़, अंतर में उतरने का प्रयत्न करता है। २९१.



प्रश्न :- विकल्प से निर्विकल्प होनेमें सूक्ष्म विकल्प रोकते हैं, उनका क्या करना ?

उत्तर :- निर्विकल्प होनेमें विकल्प नहीं रोकते, पर तूँ अंतर में ढलने योग्य पुरुषार्थ नहीं करता, जिससे विकल्प नहीं टूटते। विकल्पों को तोड़ना नहीं पड़ता, पर स्वरूप में ढलने का पुरुषार्थ उग्र होने पर विकल्प सहज ही टूट जाते हैं। २९४.



सिरके टुकड़े करनेवालों और कंठ के छेदनेवालों से भी अपना जितना अहित नहीं होता, उतना अहित अपने विपरीत अभिप्राय से होता है। जगत को अपने विपरीत अभिप्राय की भयानकता भासित नहीं होती। ३०६.



परावलंबी-भावों में कहीं न कहीं महिमा रह जाती है - जिससे आत्मा की महिमा का खून हो जाता है। ३१०.



सुनते समय इसे आत्मा का स्वरूप स्पष्ट लगता है, फिर भी इसका भ्रमजाल बना रहता है - इसका कारण यह है कि उसने ज्ञान के पाये को गहरा रोपा ही नहीं। ३१५.



वर्तमान में लेशमात्र भी प्रतिकूलता आए तो इससे सहन नहीं होती, परंतु भविष्य में आनेवाली अनंत प्रतिकूलताओं के कारणरूप भावों से छूटने की इसे दरकार ही नहीं। ३१६.



स्मशान में फूले पड़े मुर्दों को खाने में काले कौओं को मजा आता है। ऐसे ही यह हृष्टपुष्ट दिखता शरीर फूले-मुर्दे समान है, जो उसमें सुख मानते हैं, वे सभी काले कौओं समान है। ३१८.



शरीर की क्रिया से और राग की क्रिया से आत्मा को पहचानना तो आत्मा का अपमान है। ३२०.



जीव लकड़ी का, लोहे का, अग्नि का, जल का, बिजली के स्वभाव का विश्वास करता है, दवा की गोली का विश्वास करता है; यद्यपि इनसे पर में कुछ भी होनेवाला नहीं है, फिर भी जीव इनका विश्वास करता है। तो जिसमें आश्चर्यजनक एक ज्ञानशक्ति है, ऐसी ऐसी अनंत शक्तियों में व्याप्त भगवान आत्मा अचिंत्य शक्तिमय और सामर्थ्यवान है - इसका भरोसा करे तो भवभ्रमण छूट जाए।

३२३.



व्यवहारनय उपचरित अर्थ को बतानेवाला होनेसे अभूतार्थ है। सम्यग्दर्शन के विषयभूत त्रिकाली ज्ञायकभावरूप अभेद में भेद नहीं होने पर भी व्यवहारनय उसमें भेद बतलाता है, अतः उसे असत्यार्थ कहने में आता है। व्यवहारनय त्रिकाली ज्ञायक-भाव को छोड़कर ज्ञायकभाव में नहीं है ऐसे भेदों को-पर्याय आदि को प्रकट करता है, इसीलिए अभूतार्थ है। पर्याय को गौण कर, व्यवहार रूप बतलाकर, व्यवहार को झूठा बतलाया है। ३४०.



जैसे घने धुँ की आड़ में चूल्हे पर रखा हुआ लापसी का भगोना (तपेली) नहीं दिखता, वैसे ही पुण्य-पाप के प्रेमरूपी धुँ

की आड़ में ज्ञायकभाव दिखाई नहीं देता। पर्यायबुद्धि वाले को राग में रस है - रूचि है, जिससे अंतर में विराजमान सकल-निरावरण वीतराग मूर्ति ढकी रह जाती है। प्रबल कर्म के संयोग से ज्ञायक-भाव तिरोभूत हो जाता है। तो भी ज्ञायक-भाव तो ज्ञायक भाव ही है, वह तिरोभूत नहीं होता। परंतु प्रबल राग के संयोग से अर्थात् राग की रूचि और प्रेम के कारण ज्ञायक-भाव नहीं दिखाई देता, जिसमें तिरोभूत हुआ है। ३४१.



ज्ञायक-भाव और राग को पृथक न करनेवाले जीव व्यवहार से विमोहित हैं, अर्थात् शुभराग करते करते लाभ प्राप्ति की मान्यतावाले हैं। शुभोपयोग साधन हैं, व शुद्धोपयोग साध्य है, ऐसी मान्यतावाले राग में लाभ मानने से व्यवहार से विमोहित हृदय हैं, तथा आत्मा और राग को एक मानते हैं। चैतन्यस्वभाव को भूलकर राग के कर्तृत्व में बह जानेसे, राग से विमोहित हुए जीव पर्याय में जो अनेकरूप-विश्वरूप-भाव प्रकट हैं, उस रूप ही आत्मा का अनुभव करते हैं। ३४३.



अखण्ड आनंद का नाथ प्रभु है, जो उसे जाने बिना ही गुण-गुणी के विकल्प में मग्न हैं - वे व्यवहार में ही मग्न हैं। ज्ञान है सो आत्मा का है - ऐसे लक्षण-लक्ष्य के विकल्पों में रूके हुए हैं, तब तक व्यवहार ही में मग्न हैं। संसार के पाप भावों में, अथवा दयादान आदि भावों में अटके हुआओं की बात तो दूर, पर लक्षण-लक्ष्य और गुण-गुणी के विकल्पों में भी अटके रहने तक वे व्यवहार में ही मग्न हैं। ३४५.



परमात्मा फरमाते हैं कि प्रभु ! तेरे ज्ञान की पर्याय में सदैव स्वयं आत्मा स्वयं ही अनुभव में आता है। ज्ञान की प्रकट दशा में सर्व को भगवान आत्मा अनुभव में आता है।

“अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा” अनुभव में आने पर भी तूँ उसे नहीं देखता। क्यों ? - इसलिए कि पर्यायबुद्धि के वश हो जानेसे पर-द्रव्यों के साथ एकत्वबुद्धि के कारण स्व द्रव्य को नहीं देख सकता। ३५२.



गुरु और शास्त्र तो दिशा बतलाते हैं कि रागादिरूप तूँ नहीं अतः वहाँ से दृष्टि हटा, और ध्रुव में दृष्टि लगा। क्योंकि स्थिर वस्तु में दृष्टि स्थिर हो सकती है, अस्थिर वस्तु में दृष्टि स्थिर नहीं हो सकती। ध्रुव स्थिर वस्तु है, वह स्वयं के परिणाम में भी नहीं आती। अतः उस पर दृष्टि देने से दृष्टि स्थिर होती है, अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है। इस प्रकार शास्त्र और गुरु दिशा दिखलाते हैं, पर करना तो स्वयं अपने को है। इसके बिना जन्म-मरण का अंत नहीं आने वाला। ३५३.



क्रिया-कांड की दृष्टिवालों को ऐसा लगता है कि समयसार सुनते हैं, पर कोई आगे नहीं बढ़ता। उन्हें तो बाह्य त्याग-तप-व्रत आदि क्रिया करे तो ही आगे बढ़ते दिखते हैं। पर भाई ! समयसार को सुनकर परद्रव्य से भिन्नता, परद्रव्य का अकर्तापना, रागादिभावों में हेयबुद्धि और अंतर में रही हुई परमात्मशक्ति की उपादेयता - ऐसे जीवों के श्रद्धा-ज्ञान में निरंतर घुटती रहती है। ऐसे इनके श्रद्धा-ज्ञान में सुधार होता है; वे क्या आगे नहीं बढ़ें ? जिनके अंतर श्रद्धा-ज्ञान में सत्य के संस्कार पड़ते हैं, वे आगे

बढ़ते हैं। जो श्रद्धा-ज्ञान को यथार्थ किए बिना, त्याग-तप-व्रत आदि करते हैं, उन्हें आत्मानुशासनकार तो कहते हैं कि आत्मभाव बिना जो बाह्य त्याग आदि हैं - वह अज्ञानी की अंतर दाह है। अंतरंग मिथ्यात्व के त्यागबिना, बाह्य-त्याग को सच्चा त्याग नहीं कहते हैं। अंतर में श्रद्धा-ज्ञान-स्वरूपाचरणचारित्र में जो सुधार होता है, वही सच्चा सुधार है; पर बाह्य दृष्टि के आग्रहवालों को वे नहीं दिखते।

३६१.



प्रश्न :- जब (ध्रुव) द्रव्य में पर्याय नहीं है तो फिर पर्याय को गौण कैसे करने में आता है ?

उत्तर :- (ध्रुव) द्रव्य में पर्याय नहीं है, पर जो वर्तमान प्रकट पर्याय है, वह पर्याय पर्याय में है। पर्याय सर्वथा है ही नहीं - ऐसा नहीं है। पर्याय है- उसकी उपेक्षा कर, के गौण करके, नहीं है - ऐसा कहकर पर्याय का लक्ष्य छुड़ाकर, द्रव्य का लक्ष्य और दृष्टि करवाने का ही प्रयोजन है। इसीलिए द्रव्य को मुख्य कर भूतार्थ कह कर, उसकी दृष्टि करवानी है; और पर्याय की उपेक्षा कर, गौण कर, पर्याय नहीं है, पर्याय-असत्यार्थ है - ऐसा कहकर उसका लक्ष्य छुड़वाना है। परंतु पर्याय यदि सर्वथा ही न हो तो उसे गौण करने का प्रश्न ही कहाँ रहा ? द्रव्य और पर्याय दो मिलकर जो पूर्ण द्रव्य है वह प्रमाणज्ञान का विषय है। ३६२.



जिज्ञासु जीव को भूमिका अनुसार शुभाशुभ-परिणाम तो आयेंगे ही। राग को छोड़ूँ...छोड़ूँ - ऐसे राग पर दृष्टि रखने से राग नहीं छूटेगा। अतः एकदम (व्यर्थ की) उतावली नहीं करना। उतावली करने से राग नहीं छूटेगा, बल्कि उलटी उलझन बढ़ जाएगी।

राग छोड़ूँ-छोड़ूँ ऐसे नास्ति पक्ष में खड़े रहने से राग नहीं छूटेगा ओर उलझन होगी। स्वभाव के अस्तिपक्ष का यथार्थ पुरुषार्थ होने पर राग सहज ही छूट जायेगा। ३६५.



प्रश्न :- जब आत्म-वस्तु अव्यक्त है तब वह कैसे जानने में आए ?

उत्तर :- वर्तमान वर्तती पर्याय व्यक्त है, प्रकट है - वह पर्याय कहाँ से आती है ? कोई वस्तु है जिसमें से आती है या शून्यमें से आती है ? जो तरंग है वह जलमें से आती है या शून्यमें से आती है ? वैसे ही पर्याय है वह शून्यमें से नहीं आती; परंतु अन्तर वस्तु जो अव्यक्त-शक्तिरूप है, उसमें से आती है। व्यक्त पर्याय अव्यक्त आत्मशक्ति को प्रसिद्ध करती है - बतलाती है। ३७०.



प्रश्न :- वर्तमान में कर्म बंधन है, हीन दशा है, रागादि भाव वर्तते हैं, तो शुद्ध आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है ?

उत्तर :- रागादि-भाव वर्तमान में वर्तते होने पर भी वे समस्त भाव क्षणिक हैं, नश्वर हैं, अभूतार्थ हैं, झूठे हैं - अतः उनका लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्मा का लक्ष्य करने से आत्मानुभूति हो सकती है। रागादि-भाव एक समय की स्थितिवाले हैं और भगवान् आत्मा नित्य स्थित रहनेवाला अबद्धस्पृष्ट है। इसीलिए एक समय की क्षणिक पर्याय का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली शुद्धात्मा का लक्ष्य करने से - दृष्टि करने से आत्मानुभूति हो सकती है। ३७१.



प्रश्न :- हम गुरुवाणी से आत्मवस्तु का स्वीकार करते हैं, फिर भी अनुभव होनेमें क्या कमी रह जाती है ?

उत्तर :- गुरुवाणी द्वारा स्वीकार करना अथवा विकल्प से स्वीकार करना - वह वास्तविक स्वीकृति नहीं है। स्वयं के भावसे-निज आत्मा से स्वीकार होना चाहिए।

कुंदकुंदाचार्य ने कहा है कि 'हम जो कहते हैं वह तूँ तेरे स्वानुभव से प्रमाण करना'। स्वयं के अंतर से यथार्थ निर्णय करे - उसे ही अनुभव होता है। ३७२.



प्रश्न :- इस आत्मा का स्वरूप खयाल में आने पर भी वह प्रकट कैसे नहीं होता ?

उत्तर :- इसके योग्य पुरुषार्थ चाहिए। अंतर में अपार शक्ति भरी है - उसका माहात्म्य आना चाहिए। वस्तु तो प्रकट ही है। वह तो पर्याय अपेक्षा से अप्रकट कहलाती है। ऐसे तो वस्तु प्रकट ही है, कोई आड़ या आवरण नहीं है। प्रथम तो वस्तु का माहात्म्य भासित होना चाहिए। भान हो तो माहात्म्य आए - ऐसा नहीं है, यद्यपि कितने ही ऐसा मानते हैं। परंतु प्रथम माहात्म्य भासित हो तो माहात्म्य आनेपर; भान होता है - ऐसा है। ३८१.



(पर-सन्मुख ज्ञान में होनेवाले पर-लक्ष्य को छुड़ाना और निजस्वरूप अस्तित्व को वैद्य-वेदकरूप जानना योग्य है - इस न्याय से...) जीव को ज्ञेय - ज्ञायक संबंधी भ्राँति रह जाती है कि छः द्रव्य तो ज्ञेय हैं व आत्मा उनका ज्ञायक है। परंतु जीव से भिन्न पुद्गल आदि छः द्रव्य ज्ञेय और आत्मा उनका ज्ञायक है - ऐसा निश्चय से नहीं है। अरे ! 'राग' ज्ञेय और 'आत्मा' ज्ञायक - ऐसा भी (पर-सन्मुखता से) नहीं है। पर द्रव्यों से लाभ तो नहीं, बल्कि पर द्रव्य ज्ञेय और तूँ उनको जानने वाला - सचमुच तो ऐसा भी नहीं

है। मैं जाननेवाला हूँ, मैं ही स्वज्ञेय हूँ, मैं ही स्वयं को जानता हूँ। निज अस्तित्व में जो है - वही स्वज्ञेय है, ऐसा परमार्थ बतलाकर पर - ओरका लक्ष्य छुड़ाया है। ३८३.



यह आत्मा है सो ज्ञायक अखण्ड स्वरूप है। राग, कर्म व शरीर तो उसके नहीं, लेकिन पर्याय में जो खण्ड-खण्ड ज्ञान है वह भी उसका नहीं। जड़इन्द्रियाँ तो उसकी नहीं, लेकिन भावेन्द्रिय व भावमन भी उसके नहीं। एक-एक विषय को जाननेवाली ज्ञान की पर्याय; खण्ड-खण्ड ज्ञान है - यह पराधीनता है, परवशता है, यह दुःख है। ३८६.



दर्शन-ज्ञान-चारित्र से आत्मा प्राप्त नहीं होता, परंतु जो वस्तु दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित होती है, वही आत्मा है - ऐसे व्यवहार द्वारा परमार्थ समझा जाता है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आलंबन नहीं करवाते हैं, पर परमार्थ का आलंबन कराया है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जो प्राप्त हो सो ही आत्मा है - ऐसा कहकर भेद द्वारा अभेद को बतलाया है। जब भेद द्वारा बतलाया तब भेद का आलंबन नहीं करवाया, बल्कि भेद का आलंबन छुड़वा कर अभेद आत्मा का आलंबन करवाया है - ऐसा समझना। ३८८.



प्रश्न :- तत्त्व का निर्णय करने में कितने वर्ष लगाना ?

उत्तर :- कार्य हो जाए तो अंतर मुहूर्त में हो जाए, अन्यथा इसके निर्णय में पूरा जीवन भी बीत जाए। इसमें काल का तो प्रश्न ही कहाँ है ? जो वीर्य विपरीतता में लगा है, उसे पूरा पलटकर अपनी ओर ढाले तो कार्य हुए बिना न रहे। जितना कारणरूप

पुरुषार्थ करना चाहिए उतना पुरुषार्थ न करे तब-तक कार्य नहीं होता। ३९२.



अहो ! यह आत्मतत्त्व तो गहन है। आखें बंद करके बाहर के पांचो इन्द्रियों के व्यापार को बंध कर, मन द्वारा इसका विचार करे कि अहो ! यह आत्मवस्तु अचिंत्य है। ज्ञायक...ज्ञायक...ज्ञायक ही है - ऐसा विकल्प से निर्णय करते हैं, तथापि वह अभी परोक्ष निर्णय है। परोक्ष, अर्थात् प्रत्यक्ष स्वानुभव नहीं हुआ, अतः उसे परोक्ष कहा। मन से बाहर का बोझा बहुत घटा डाले, तब मन अंतर के विचार में स्थिर हो और वहाँ से भी फिर खिसक कर अंतर-स्वभाव की महिमा में मग्न हो, तब आनंद का अनुभव होता है - इसे सम्यक्दर्शन कहते हैं। ऐसा वस्तु का स्वरूप हैं और उसे पाने का यह उपाय है। इसमें कोई व्याकुल होने जैसी बात नहीं है। स्वभाव का आश्रय तो बेचैनी का नाश कर डालता है। अभी लोग बाह्य क्रियाकांड में बह गये हैं। उन्हें तो मन द्वारा भी सत्यनिर्णय करने का अवसर नहीं है। ३९५.



आहाहा ! क्षण में अनेक प्रकार के विचित्र रोग हो जाए - ऐसा शरीर है। कहाँ शरीर और कहाँ आत्मा ! इनमें तनिक भी मेल नहीं है। अहा ! ऐसी दुर्लभ मनुष्य देह मिली और ऐसा वीतराग मार्ग महाभाग्य से मिला है, अतः मन का अधिकतम बोझा घटाकर आत्मा को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। पांच इन्द्रियों के रसरूप बोझे को हटाकर आत्मा को पहचानने के विचार में लगना चाहिए। अंदर में अनंत आनंद आदि स्वभाव भरे हैं - ऐसे स्वभाव की महिमा आए (पहचान होने पर) तब अंतर पुरुषार्थ स्फूरित हुए

बिना रहे ही नहीं। ३९६.



संयोग का लक्ष्य छोड़ दे और निर्विकल्प एकरूप वस्तु है उसका आश्रय ले। वर्तमान (पर्याय) में त्रिकाली-ज्ञायक सो मैं हूँ - ऐसा आश्रय कर। गुण-गुणी के भेद का भी लक्ष्य छोड़कर एकरूप गुणी की दृष्टि कर - तुझे समता होगी - आनंद मिलेगा - दुःख का नाश होगा। एक चैतन्य वस्तु ध्रुव है, उसमें दृष्टि देनेसे तुझे मुक्ति का मार्ग प्रकट होगा। अभेद वस्तु कि जिसमें गुण-गुणी के भेद का भी अभाव है वहाँ जा ! तुझे धर्म होगा, राग से छूटने का पंथ हाथ आएगा, विकार और दुःख से छूटने का पंथ तेरे हाथ लगेगा। ४०४.



रागी हूँ या रागी नहीं हूँ, वस्तु तो ऐसे नयों से अतिक्रान्त है। व्रत-तपादि का राग- यह तो स्थूल राग है, पर रागी हूँ या रागी नहीं हूँ, ऐसे सूक्ष्म राग से भी शुद्ध चैतन्यतत्त्व के अंतर में नहीं जा सकते। वस्तु शुद्ध चैतन्यस्वरूप होनेसे शुद्ध निर्मल परिणाम द्वारा ही पकड़ी जा सकती है, याने कि अंदर जा सकते हैं। "मैं शुद्ध हूँ" - ऐसे विकल्प से भी वस्तु हाथ आने वाली नहीं। ४१०.



प्रश्न :- सम्यग्दर्शन होनेके पूर्व अनुमानज्ञान से आत्मा जैसा है वैसा जाना जा सकता है न ?

उत्तर :- पहले अनुमानज्ञान को सहायता से जाने, पर स्वानुभव में ही यथार्थ आत्मा जैसा है - वैसा ज्ञात होता है।

प्रश्न :- अनुमानज्ञान से आत्मा जाननेवाले की पर्याय में भूल है या आत्मा जानने में भूल है ?

उत्तर :- अनुमानज्ञान वालों ने आत्मा को यथार्थ जाना ही नहीं। आत्मा को जानने में ही भूल है। स्वानुभव प्रत्यक्ष से ही आत्मा जैसा है वैसा जानने में आता है। अनुमान से तो शास्त्र व सर्वज्ञ कहते - वैसा आत्मा जानते हैं, परंतु यथार्थरूप से तो स्वानुभव में ही ज्ञात होता है। स्वानुभव से जाने बिना आत्मा यथार्थरूप से जानने में नहीं आता। ४१५.



आहा हा ! आनंद का नाथ परमात्म-स्वरूप आत्मा - यह महा गंभीर वस्तु है। लोगों को लगता है। जैसे देश में जायें तो अपरिचित सा अपरिचितसा लगता है। पर बापू ! ये तो भगवान के देश की बातें हैं, जो इन्हें रुचि से सुने तो उसके निज-घर की ही बातें हैं। अपरिचित कुछ नहीं, अपना ही है। अनंत-अनंत जन्म-मरण के नाश की बातें हैं। इसके लिए अभ्यास चाहिए, निवृत्ति चाहिए। लौकिक पढ़ाई में भी दस-पंद्रह वर्ष लगाते हैं, तो इसका भी थोड़ा समय निकाल कर अभ्यास करना चाहिए। यह वस्तु गंभीर है। निश्चय किस प्रकार है, व्यवहार किस प्रकार है, आदि जानना चाहिए। ये तो सर्वज्ञ की जानी और कही हुई बातें हैं, इन्हें रुचिपूर्वक अंतर में उतर कर अनुभव करे - तो इसकी महिमा कैसी और कितनी है ! सो खयाल में आए। ४१६.



भाई ! तूँ सावधान रहना। मुझे आता है - ऐसे बुद्धिबल के अहम् में अभिमान के रास्ते न चले जाना। विभाव का रास्ता तो अनादि से पकड़ा हुआ ही है। ग्यारह अंग के ज्ञान में - धारणा में तो सब कुछ आया था, परंतु शास्त्र के धारणा-ज्ञान की अधिकता की; और आत्मा की अधिकता नहीं की। धारणा-ज्ञान आदि के अभिमान

से बचाने के लिए गुरु चाहिए, सर पर टोकने वाले गुरु चाहिए।

४२१.



प्रभु ! क्षयोपशम के अभिमान से दूर रहना ही अच्छा है। बाह्य प्रसिद्धि के भाव से व बाह्य प्रसिद्धि के प्रसंगों से दूर-भागने में ही आत्मार्थी को लाभ है। क्षयोपशमज्ञान के कारण लोग मान-सन्मान-सत्कार करते हैं, पर आत्मार्थी को इन प्रसंगों से दूर-भागना ही योग्य है। ये मान-सन्मान के प्रसंग निस्सार हैं, तनिक भी हितकर नहीं। एक आत्मस्वभाव ही सारभूत और हितकारी है। अतः "क्षयोपशम" के अभिमान से दूर-भागकर आत्म-सन्मुखता करना ही योग्य है।

४२२.



चैतन्यमूर्ति - मुक्तस्वरूप है। चैतन्यमूर्ति - अनंत गुण का अरूपी स्वरूप - वह अंदर में मुक्त-स्वरूप है। इस मुक्त-स्वरूप का अंतर-ध्यान करने से पर्याय में मुक्त-स्वरूप प्रकट होता है। मुक्त-स्वरूप बाह्य से प्रकट नहीं होता, बल्कि अंतर में जो पूर्णानंद-स्वरूप है - उसे दृष्टि में लेकर, उसका ध्यान कर, अंतर में स्थिर हो जानेसे पर्याय में मुक्ति प्रकट होती है।

ध्यान करना तो आता ही है न ? - आर्तध्यान आदि तो करता ही है। पुत्र के लग्न पर पूरी वरसवारी (निकासी) निकल जाए तो भी विचार में-ध्यान में-विकल्प में ऐसा मशगूल हो जाता है कि उसकी खबर ही न पड़े। वैसे ही अतीन्द्रिय आनंद, स्वरूप प्रभु को ध्यान में लेकर जम जा। ४२७.



प्रश्न :- ग्यारह अंग और नौ पूर्व के ज्ञानवाले पंचमहाव्रतों का

पालन करते हैं, फिर भी आत्मज्ञान करने में क्या कमी रह जाती है ?

उत्तर :- ग्यारह अंग का ज्ञान और पंचमहाव्रत का पालन करने पर भी उन्हें भगवान आत्मा का अखंड-ज्ञान करना बाकी रह जाता है। खंड-खंड इन्द्रिय ज्ञान तो ग्यारह अंग का कार्य है; वह खंड-खंड ज्ञान परवश होनेसे दुःख का कारण है। अखंड-आत्मा के ज्ञान रहित जीव का ग्यारह अंग का ज्ञान नाश को प्राप्त होते हुए, कालक्रम से वह निगोद में भी चला जाता है। अखंड-आत्मा का ज्ञान करना - वही मूल वस्तु है, उसके बिना भवभ्रमण का अंत नहीं। ४३०.



पर से विरक्तता और विभाव की तुच्छता भासित हुए बिना, अंतर में नहीं उतर सकते। (हम) स्त्री-पुत्र-पैसा आदि से समृद्ध हुए हैं - ऐसा मानने वाले मूढ हैं। जिसे परद्रव्य से विरक्ति नहीं होती, रागादि-विभाव की तुच्छता नहीं लगती और अंतर में छटपटाहट अर्थात् उत्कंठा न जगे, वह अंतर में कैसे उतर सके ? ४४०.



निज वस्तु अखंड-आनंदकंद चैतन्य है, - उसकी जिन्हें खबर नहीं, वे सब चलते-फिरते मुर्दे हैं। फिर चाहे, वे करोड़पति हों या बड़े राजा हों, पर अपनी चैतन्यलक्ष्मी का भान नहीं तो वे सब चलते-फिरते मुर्दे हैं। दुनिया में चतुराई से पाँच-पच्चीस लाख कमाते हों, या लौकिकबुद्धि के खाँ बने धूमते हों; पर वे निज-प्रभुता के भान बिना, अपनी महानता के भान बिना नरकादि के अनंत-अनंत दुःख भोगेंगे - कि जिन दुःखों का वर्णन करोड़ों जीभ द्वारा करोड़ों भव तक करें, तो भी न कर पायेंगे। निज प्रभु के भान बिना ऐसे

अनंत दुःख भोगने पड़ेंगे। ४४२.



प्रश्न :- विकल्प हमारा पीछा नहीं छोड़ते।

उत्तर :- विकल्पों ने तुझे पकड़ा ही नहीं, तूने विकल्पों को पकड़ा है। तूँ परमानंद स्वरूप से परिपूर्ण भगवान है - उसे दृष्टि में नहीं लेता; जिससे विकल्प तुझे पकड़े हुए लगते हैं। तूने, तेरे भगवान को भ्रम से भूलकर, विकल्पों को पकड़ा है। तूँ खिसक जा न ! तूँ विकल्पों का लक्ष्य छोड़कर अपने भगवान का लक्ष्य कर - तो विकल्प तुझे पकड़े हुए नहीं लगेंगे। विकल्पों में कहीं भी सुख-शांति नहीं है, जहाँ सुख-शांति भरी है वहाँ जा ! सुख-शांति का भंडार - ऐसे भगवान को पकड़ (आलिंगन कर)। तेरे अंतर में पूर्ण सुख-शांति भरी है। विकल्प तो बाहर हैं, उनमें कहीं भी सुख-शांति नहीं। तेरे अंतर में विकल्प रहित वस्तु है, उसमें सुख-शांति भरी है, प्रथम उसीका लक्ष्य और प्रतीति कर, विकल्प से भेदज्ञान कर। स्थिरता अनुसार क्रमशः सभी विकल्प छूट जायेंगे।

४६१.



भाई ! पदार्थ की स्वतंत्रता की बात जानने के लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिए। भिन्न तत्त्व को भिन्न तत्त्व रूप से जानना; भिन्न तत्त्व का अन्य भिन्न रहा हुआ तत्त्व कुछ भी नहीं कर सकता - ये बातें बहुत सूक्ष्म हैं, इन्हें यथार्थ रूप से जानने में बहुत पुरुषार्थ की आवश्यकता है। ४६६.



सत्स्वरूप - ऐसे आत्मा से परिचय रखना; जैसा जिसको परिचय होगा वैसी ही उसकी परिणति होगी। राग के रसीले संसारी-जीवों

से परिचय करेगा तो तेरी परिणति गिर जाएगी। जिनको शरीर आदि का प्रेम है, पुण्य का प्रेम है - ऐसे लौकिक-जनों से परिचय करेगा तो तेरी परिणति पतित हो जाएगी। जो लोग मान-सन्मान दें उनके परिचय से तो तूँ मर जाएगा। ४६८.



मुमुक्षु जीव शुभराग में जुड़ते हैं, पर मुमुक्षुता में शुद्धात्मा-प्रति की शोधक वृत्ति चली नहीं जाती। मुमुक्षु जीव को दया-दान-पूजा-भक्ति आदि के शुभभाव आते अवश्य हैं, परंतु उनकी वृत्ति और झुकाव शुद्धात्मा की तरफ ही रहा करता है; शुभभाव में तल्लीनता नहीं होती। जिनस्वरूपी भगवान आत्माप्रति की शोधक वृत्ति नहीं जाती।

(मुमुक्षुजीव) शुद्धात्मा का ध्येय छोड़कर शुभराग का आग्रह नहीं करता। शुभराग से होगा... ऐसा नहीं मानता; पर्याय की अशुद्धता को भी नहीं भूलता, स्वच्छंद नहीं करता। ४६९.

प्रश्न :- स्वच्छंद, याने क्या ?

उत्तर :- विकारी पर्याय सो मेरी नहीं, ऐसा मानकर विकार का सेवन करना। अशुद्धता चाहे जितनी हो उसका सेवन करना और ज्ञानी के भोग को निर्जरा कहा है तो हमारे भोग के भाव व विषय-वासना के भाव से भी निर्जरा होती है - वैसा माने तो स्वच्छंद है। चाहे जितना विकार हो तो भी मुझे क्या ? - ऐसा मानना स्वच्छंद है। सच्चा मुमुक्षु ऐसा स्वच्छंद सेवन नहीं करता। पर्याय में विकार हो उसे अपना अपराध समझता है। ज्ञान में सही जानता है, पाप में खो नहीं जाता। मुमुक्षु का हृदय द्रवित होता है, वैराग्यमय होता है। ४७०.



शुभभाव - जिन्हें कि दुनिया अभी धर्म मानती है, धर्म का कारण मानती है...ये आस्रव क्या हैं ? - कि आकुलता को उत्पन्न करनेवाले हैं। शुभ और अशुभभाव (दोनों ही) आकुलता के उत्पादक हैं; आत्मा की शांति के उत्पादक नहीं। अतः व्यवहार से निश्चय हो सके - ऐसा संभव नहीं। शुभभाव आकुलता के उत्पादक होनेसे आत्मा की शांति अथवा धर्म के उत्पादक नहीं हैं। ४७२.



प्रश्न :- तत्त्व का स्वरूप सही जानने पर भी जीव किस प्रकार से अटक जाता है ?

उत्तर :-तत्त्व को सही जानने पर भी पर-ओर के भाव में, गहरायी में अच्छापन लगता है, परलक्ष्यी ज्ञान में संतोष होता है, अथवा दक्षता के अभिमान में अटक जाता है, बाह्य प्रसिद्धि के भाव में रुक जाता है, अंतर में रहने के भाव न होनेसे अटक जाता है, अथवा शुभ-परिणाम में मिटास रह जाती है। ऐसे विशेष प्रकार की पात्रता बिना जीव अनेक प्रकार से अटक जाता हैं। ४७७.



विपरीत मिथ्यात्व के अनंत प्रकार हैं और स्थूलरूप से असंख्य प्रकार हैं। उसमें से जितने प्रकार की विपरीतता छूटती है, उतना मिथ्यात्व का त्याग नहीं होता। समस्त प्रकार की विपरीतता छूटने पर ही सम्यग्दर्शन होगा; परंतु बाह्य-त्याग की दृष्टि वाले को यह मिथ्यात्व का त्याग है सो दिखता नहीं। 'राग और मैं आत्मा एक हूँ - ऐसी मान्यता, चौरासी के अवतार में रूलने के कारणरूप-महा पाखण्डरूप-मिथ्यात्व है; परंतु बाह्य-त्याग की दृष्टि वालों को मिथ्यात्व का यह महान पाप नहीं दिखता। आहा हा ! इस मिथ्यात्व के दुःख बहुत आकरे हैं, भाई ! ४८०.



अनंत-अनंत गुणों के सागर - ऐसे भगवान आत्मा के अनंत-अनंत गुणों से विरुद्ध भाव, जो मिथ्यात्व है - उसके गर्भ में अनंतानंत भव पड़े हैं, इसीलिए सर्व प्रथम उसका त्याग करना चाहिए। अनंत गुणों के भण्डार रूप भगवान से विरुद्ध श्रद्धारूप-मिथ्यात्वभाव में अनंत-अनंत गुणों का अनादर है। अनंत गुणों का लाभ स्व-आश्रय से होता है। ऐसा न मानकर पराश्रित ऐसे राग-भाव में जिसने अपनापन माना है, उसने अनंत गुणों का अनादर किया है। अनंतानंत गुण हैं उनका अनादर कर, राग के एक कण को भी अपना मानने वाले - मिथ्यात्वभाव में अनंतानंत दुःख भरे हैं। आत्मा में अनंतानंत गुण भरे हैं; और उसके अनादर रूप मिथ्यात्वभाव में अनंतानंत दुःख भरे हैं। इसीलिए इस मिथ्यात्वभाव के त्याग का उद्यम क्यों नहीं करता ? गफलत में कैसे रहता है ? ४८६.



करोड़ों श्लोक धारणा में लिए परंतु अंतर में सूक्ष्म रूप से पर-ओर के झुकाव में कहीं न कहीं अच्छा लगता है। पर-ओर का ज्ञान है सो तो परसत्तावलंबी-ज्ञान है, उसमें प्रमोदित होता है कि बहुत लोगों को समझाऊँ तथा वे रंजित हो - ऐसी सुख-कल्पना रह जाती है। धारणा में यथार्थ ज्ञान होने पर भी अंतर में अयथार्थ प्रयोजन रहने से सम्यग्दर्शन नहीं होता। ४९१.



सच्चे जिज्ञासु जीव को अंतर में ज्ञान की सूक्ष्म भी भूल रह गयी हो तो भी विशेषतम जिज्ञासा होनेसे वह उसे दूर कर लेता है। यथार्थ जिज्ञासु की ज्ञान की रही कोई भी भूल, स्वभाव की लगनी के बल से निकल जाती है। जिसे ज्ञायकभाव को पकड़ने तीव्र भावना हो - उसकी यदि किसी भी प्रकार की अटकने की

थोड़ी भी संभावना रह गयी हो तो वह लगनी के बल से दूर हो जाती है। ४९३.



प्रश्न :- पर्याय उस समय का सत् है, निश्चित है, ध्रुव है - ऐसा कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :- पर्याय उस समय का सत् है, निश्चित है, ध्रुव है - ऐसा बतलाकर, उसपर से लक्ष्य छुड़वाकर ध्रुव द्रव्य पर ही लक्ष्य करवाने का प्रयोजन है। ४९९.



प्रश्न :- सम्यग्दर्शन न होनेमें भावज्ञान की भूल है अथवा आगमज्ञान की भूल है ?

उत्तर :- अपनी भूल है। स्व-ओर न झुककर, पर-ओर रूकना ही जीव की भूल है। विद्यमान शक्ति को तिरोभूत की; वही उसकी भूल है। इस प्रकट शक्ति की विद्यमानता को जानने-देखने पर यह भूल टलती है। (इस प्रकार भावज्ञान की भूल है)। ५००.



जिसे दुनिया की बातों में रस हो, उसे यह बात जचना कठिन है; व जिसे इस विषय का रस लग जाता है उसे अन्य कहीं भी रस नहीं आता। इस प्रकार जिसे इन्द्रिय-ज्ञान का रस चढ़ा है उसे अतीन्द्रिय-ज्ञान प्रकट नहीं होता। जैसे राग व्यभिचार है, वैसे ही इन्द्रियज्ञान का रस भी व्यभिचार है। ५०३.



पर्याय गौण हो जाती है, इसका यह अर्थ नहीं कि वीतरागता का अनुभव गौण हो जाता है। गौण हुयी यानी वीतरागता पर्याय में न आयी अथवा वीतरागता पर्याय में न हुयी, इसलिए गौण हो

गयी - ऐसा अर्थ नहीं है। मात्र लक्ष्य की अपेक्षा से गौणता बतलायी है। वीतरागी-पर्याय का लक्ष्य वीतरागीपर्याय पर नहीं है, अतः गौण बतलाया है। लक्ष्य (प्रकट) वीतरागी-पर्याय पर नहीं, परंतु ध्रुव पर है। अपरिणामी (द्रव्य) इस परिणाम में नहीं आता फिर भी उस परिणाम में अपरिणामी का ज्ञान व वीतरागता आ जाती है। ५१३.



अभी कितने ही लोग शुभराग को मोक्षमार्ग मानते हैं, उनको कहते हैं कि प्रभु ! तुम कहाँ चले गये ? क्या करते हो ? जब परलक्ष्मीज्ञान सो भी जीव का नहीं; तो परलक्ष्मीराग जीव का भला करे, यह बात कहाँ रही। अरे ! प्रभु, यह क्या करते हो ! कभी सुना ही नहीं। अरे ! इसकी प्रभुता, इसकी चमत्कृत-शक्तियाँ तथा चमत्कृत ही इसकी पर्यायें - इनकी तो उन्हें खबर ही नहीं। ऐसा जो भगवान आत्मा - उसकी अतिशय गंभीरता की तो बात ही क्या करें ! जैसे पाताल कुएँ में पानी तल से फटकर बाहर आता है वैसे ही लक्ष्य के आश्रय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे ज्ञानरूपी पाताल कुएँमें से फौआरे फूट-कर बाहर आते हैं। ५१६.



प्रश्न :- योगसार में पुण्य को भी पाप कैसे बतलाया है ?

उत्तर :- यद्यपि पुण्य शुभराग है तथापि व स्वरूप से पतित करता है; अतः वहाँ बतलाया है कि पाप को तो सारा जग ही पाप कहता है, परंतु अनुभवी जीव पुण्य को भी पाप कहते हैं। पूज्य जयसेनाचार्य ने भी कहा है कि 'पुण्य अशुभ से तो बचाता है परंतु शुद्धस्वरूप से गिराता है, पतित करता है' इसीलिए पुण्य को भी पाप बतलाया है। पुण्य का अधिकार होने पर भी उसमें पुण्य को पाप कहा है। यहाँ तो जिसे आत्मा का हित करना है

उसकी बात है - ऐसे तो अनंत बार शुभभाव कर, नौवें ग्रैवेयक तक गया, परंतु एक भी भव कम न हुआ। ५१९.



प्रश्न :- आत्मा की प्रतीति न हुयी हो तथा शुभ-राग को विष कहे तो क्या स्वच्छंदी न हो जाए ?

उत्तर :- अज्ञानी स्वच्छंदी ही है। मिथ्यात्व है सो ही महान पाप और स्वच्छंद है। शुभराग को विष बतलाकर, शुभराग की रुचि छुड़वानी है। प्रथम शुभराग नहीं छूटता, प्रथम तो शुभ की रुचि छूटती है। शुभराग को जहर कहकर उसकी रुचि ही छुड़वानी है। ५२०.



आहा हा ! एक भाव ही यथार्थरूप से समझ में आए कि भगवान ज्ञानमय-चैतन्यबिंब है - अतीन्द्रिय आनंदमय है; उसके प्रेम में, उससे विरुद्ध स्वरूप दुःख व दुःख-फल अर्थात् कर्मचेतना व कर्मफलचेतना का करना व वेदन नहीं होता, ऐसा समझ में आए तो ही उसका मात्र ज्ञाता रह सके - ऐसी यह बात है। ५४६.



प्रश्न :- अंतर्दृष्टि करने का क्या उपाय है ?

उत्तर :- अंतर्दृष्टि करने का उपाय तो स्वसन्मुख होकर अंतर में दृष्टि करना ही है। एकदम अंतर्मुख होकर वस्तु को लक्ष्य में लेना - यही उपाय है। ऐसे तो मंद पुरुषार्थी को व्यवहार से अनेक बातें समझाते हैं। सविकल्प-भेदज्ञान से निर्विकल्प-भेदज्ञान होता है - ऐसा भी कथन आता है। ५५४.



प्रश्न :- श्रवण में प्रेम हो तो मिथ्यात्व मंद पड़े ?

उत्तर :- मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी तो अनंत बार मंद पड़े; परंतु ये सम्यग्दर्शन के कारण नहीं है। जोर तो मूल दर्शनशुद्धि पर होना चाहिए। ५५७.



प्रश्न :- एक आत्मा के ही सन्मुख होना है तो इसके लिए आचार्यदेव ने इतने सारे शास्त्रों की रचना क्यों की ?

उत्तर :- जीव की भूलें इतनी अधिक हैं कि उन्हें बतलाने के लिए इतने सारे शास्त्रों की रचना हुयी है; की नहीं है, पुद्गल से हुयी है। ५६६.



भगवान आत्मा पूर्णानंद से परिपूर्ण स्वभाव है, इस स्वभाव के साधन से ही जीव को मुक्ति होती है। स्वभाव-साधन द्वारा ही वह स्वभाव जानने में आता है। राग से भेद करने पर, स्वभाव का आश्रय लेने से सम्यक्त्व (प्रकट) होता है। ५६८.



तूँ तो जिनस्वरूप ही है प्रभु ! इस जिनस्वरूप की दृष्टि करने के लिए गुण-गुणी के भेद की भी आवश्यकता नहीं है। प्रभु ! जो एक समय में ही अनंत गुणों को निगल गया है - पी गया है, उसमें ज्ञान-दर्शन-श्रद्धा आदि के भेद नहीं हैं। अभेद पर दृष्टि करने से उसमें भेद दिखायी नहीं देते और जब भेद दिखायी देते हैं तब अभेद दृष्टि नहीं होती। सामान्य वस्तु में शुभराग तो नहीं, निमित्त नहीं, बल्कि विशेष भेद भी नहीं हैं। अतः गुणी व गुण के भेद देखने जाएगा तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा। आहा हा ! यह तो धीरों का काम है। उतावली से तो आम भी नहीं पकते। ५८४.



यह गुणपिण्ड आत्मा का आनंद गुण है। आत्मा ज्ञाता है और ज्ञान उसका गुण है - इस प्रकार के भेद से तो विकल्प उत्पन्न होंगे व इनसे मुझे लाभ होगा - ऐसा माननेवाले को तो मिथ्यात्व ही होगा। ५८५.



प्रश्न :- ज्ञानी तो द्रव्यदृष्टि के जोर से राग को पुद्गल का कार्य मानते हैं, परंतु क्या जिज्ञासु का राग को पुद्गल-कार्य मानना ठीक है ?

उत्तर :- जिज्ञासु भी वस्तुस्वरूप के चिंतवन आदि के दौरान यही मानता है कि राग सो आत्मा नहीं है; राग तो उपाधिभाव है, मेरा नहीं, परंतु पर-आश्रय से उत्पन्न होनेसे पुद्गल का परिणाम है। ५८६.



प्रश्न :- राग सो पुद्गल-परिणाम - पुद्गल-परिणाम, इस प्रकार राग का डर न रहे तो ?

उत्तर :- ऐसा नहीं होता। राग की रुचि नहीं होती, राग की रुचि छोड़ने के लिए राग को पुद्गल का परिणाम जानते हैं। शास्त्र की कोई भी बात स्वच्छंदता का कारण नहीं; किन्तु वीतरागता प्रकट करने हेतु ही कही है। ५८७.



प्रश्न :- धारणाज्ञान से आगे नहीं बढ़ते तो किसके बल से आगे बढ़ा जा सके ?

उत्तर :- द्रव्य के बल से ही आगे बढ़ते हैं। ज्ञायकभाव, चैतन्यभाव, द्रव्यभाव - प्रथम इस-ओर ही जोर होना चाहिए। ५८९.



हे जीव ! जिसमें तेरी रुचि होगी उसी अनुसार गति होगी। क्योंकि जब भविष्य में भी तुझे अनंतकाल रहना ही है तो यह देह छूटने पर कहाँ रहेगा ? - कि जैसी तेरी रुचि होगी-जैसी तेरी मति होगी; वैसी ही गति पाएगा। जो तेरी मति चैतन्यस्वरूप में न होकर राग और पर में होगी तो तुझे मरकर संसार में ही भटकना पड़ेगा। अतः हे जीव ! 'अपनी मति,' राग व पर में न लगा। ५९४.



प्रश्न :- रोज सुनते हैं। पर अब तो अंतर में उतरने का कोई छोटा सुगम मार्ग बतलाइए।

उत्तर :- आत्मा अकेला ज्ञानस्वरूप-चिद्घन है - अभेद है - उसीकी दृष्टि करना। भेद-पर लक्ष्य करने से तो रागी को राग होता है; अतः भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद की दृष्टि करना - संक्षेप में यही सार है। ६०७.



भाई ! अधीर न होना। तेरा ज्ञातृत्व छोड़कर "मैं जगत को समझा दूँ" - ऐसा अभिप्राय न रखना। ६२४.



प्रश्न :- शरीर में रोग हो - पलंग पर सोए पड़े रहना हो, तब धर्म कैसे हो ?

उत्तर :- कौन सोया हुआ है ? आत्मा तो सदा ही असंयोगी-अरूपी-ज्ञानधन है; वह शरीर में नहीं है - शरीर के कारण से नहीं है। शरीर भले ही सोया हुआ हो; अंतर में जो (ज्ञायक प्रभु) पर के अभावरूप-नित्यजागृत-चैतन्य-ज्योतिरूप है - सोया हुआ नहीं है।



(जीव) स्व से सत् है, पर के आधार से नहीं - यह अनेकांत है। सर्वांग-निःशंकता में कितनी शांति है। मेरा अस्तित्व पर के कारण से नहीं है; अतः पर का चाहे कुछ हो, उस-ओर देखने की आवश्यकता ही नहीं है। मकान-शरीरादि का ध्यान न रखूँ तो वे गिर जायेंगे - ऐसा सोचने की आवश्यकता ही न रही। शरीर अपने कारण से है, मेरे कारण से नहीं - चिंता व्यर्थ है, जो ऐसी स्वतंत्रसत्ता का विश्वास नहीं करता; वह भटकता है। ६३१.



ज्ञेयों की आकृति का स्मरण होते ही 'ये नहीं चाहिए' - इस प्रकार से ज्ञेय का तिरस्कार करने पर अपनी ज्ञान-पर्याय, स्वभाव तथा ज्ञानवान आत्मा का निषेध हो जाता है; जिसकी अज्ञानी को खबर ही नहीं होती। ६३२.



आत्मा शाश्वत है, अतः उसकी शक्तियाँ भी शाश्वत हैं - उनकी ओर देखने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है। आत्मतत्त्व अनंत-शक्तियों का पिण्ड है। जिसे उसका आदर नहीं है परंतु पुण्य-पाप का आदर है, वह संसार में रुलता है। अंतर का विश्वास न होने पर बाह्य-विश्वास ही प्रसिद्ध रहता है। जल के साथ अमुक प्रकार की गोली लेनेसे दस्त होनेका विश्वास तो होता है, परंतु अज्ञानी को यह विश्वास नहीं होता कि आत्मा अनंत-शक्तिवान है। ६४५.



जिन्होंने पुरुषार्थ द्वारा मोह का नाश किया है अर्थात् पर की सावधानी छोड़ दी है व ज्ञानमात्र निज-स्वभाव की सावधानी रखते हैं - वे सिद्धदशा को पाते हैं। ज्ञानमात्र के सिवाय अन्य किसी उपाय से कल्याण नहीं होता। ६४७.



जो आत्मसन्मुख होते हैं, वे विकार से विमुख हुए बिना नहीं रहते। "मैं निर्विकार हूँ" यदि ऐसा कहे, पर विकार से विमुख न हो तो (वह) मात्र धारणा है। राग से, पुण्य से अथवा पर से चैतन्य की एकता नहीं - ऐसा पृथक्कारूप-भेदज्ञान तो न करे व ज्ञानमय-वस्तु का ग्रहण हुआ बतलाए तो, वह बात मिथ्या है। जिसने स्वभाव की दृष्टि की, उसके विभाव का अभाव होना ही चाहिए। यदि विभाव का अभाव न हुआ तो स्वभाव-दृष्टि ही नहीं हुयी।

६४८.



दया-दान-भक्ति-पौषध-प्रतिक्रमण-सामायिक आदि क्रियाकांड में कुशलता, रुखाआहार लेना इत्यादि सभी क्रियाएँ - शुभ-राग व पर की हैं। जो केवल शुभ-राग की क्रियाओं में ही संतुष्ट हो जाते हैं कि "मैंने बहुत किया" - उन्हें इन पुण्य-पाप से रहित निष्कर्म-भूमिका की प्राप्ति नहीं होती - ज्ञानस्वभावी आत्मा की दृष्टि नहीं होती। कोई ऐसा कहे कि राग को घटाया है, परंतु राग-रहित चैतन्य कौन है ? - इसका पता ही न हो, तो उसे भी आत्मा के धर्म की प्राप्ति नहीं होती। जो आत्मा को समझे ही नहीं व केवल राग-घटाए, उसे भी धर्म नहीं होता; और मात्र ज्ञान की बातें करे व राग का अभाव न करे तो उसे भी आत्म-प्राप्ति नहीं होती - धर्म प्रकट नहीं होता। ६४९.



जब-तक ज्ञान में तत्त्व की अयथार्थता है तब-तक तत्त्व में स्थिरता नहीं होती। ज्ञान की विपरीतता में आत्म-एकाग्रता नहीं जम पाती। इसीलिए कहते हैं कि आत्मा ज्ञानानंद है - उसकी रुचि करो उसका अवलोकन करो। ६५३.



प्रश्न :- यह समझ में न आए, तब-तक क्या करना ?

समाधान :- न समझे तब-तक इसी को समझने का प्रयत्न करना। स्वभाव क्या ? विभाव क्या ? किस ओर झुकने से लाभ या हानि होती है ? - उसका विचार करना। उल्टा प्रयत्न कर रहा है, उसके बदले अब यथार्थ प्रयत्न करना। शरीर व विकार की ओर जो झुकाव था, उसे पलट कर अब नित्यानंद-स्वभाव की ओर झुकना; तेरे ही हाथ में है, तू ही तेरी अवस्था का धारक है। ६८७.



आत्मा तथा अन्य तत्त्वों की विपरीत-दृष्टि ही संसार की साधक है। राग तो राग है, स्वभाव सो स्वभाव है, निमित्त तो निमित्त है - जो ऐसे स्वतंत्र-तत्त्व की रुचि नहीं करता; व पुण्य से धर्म मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है - इसका फल संसार में रुलना है। ६९२.



प्रश्न :- हम अन्य देवादि की भक्ति आदि नहीं करते तो हमारा ग्रहीत-मिथ्यात्व तो छूटा है न ? इतना तो लाभ हुआ न ?

उत्तर :- नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि तुम्हें ग्रहीतमिथ्यात्व का ज्ञान ही नहीं है। तुम्हें १८ दोष-रहित सच्चे-सर्वज्ञदेव, उनकी अनेकांत लक्षणयुक्त हितकारी-वाणी तथा सच्चे निर्ग्रंथ-गुरु की पहचान ही नहीं है। किसी समाज-प्रतिष्ठित पुरुष के अनुसरण, अथवा कुल-परंपरा से तुम सच्चे-देवादि को मानते हो; परंतु तुम्हें अंतरंग में उनका स्वरूप भासित नहीं हुआ, अतः तुम्हारे ग्रहीतमिथ्यात्व छूटा हुआ नहीं कहा जा सकता।

वास्तव में तो कुदेवादि से संबंध तोड़कर जो सच्चे-देवादि में लगनी लगाकर, तत्त्व का निर्णय कर, अंतरंग शुद्ध-तत्त्व का श्रद्धान आदि करेंगे उनका ही कल्याण होगा। ७२६.



भाई ! यह तो दुनिया के सामने झुकना है। जिन्हें सुख की चाह हो, उन्हें सच्चा निर्णय करना ही पड़ेगा। ऐसे स्वयं को सर्व प्रकार से देव-गुरु-शास्त्र के स्वरूप का निश्चय हुआ हो तो प्रतिपक्षी को समझाने की सामर्थ्य रहे, अपनी आस्तिक्य-बुद्धि बनी रहे तथा प्रतिकूल-प्रसंग में भी डाँवाडोल न हो बैठे - इन्हीं हेतुओं से सभी पहलूओं का सच्चा निर्णय कर लेना चाहिए। किन्तु पक्षपाती होकर देवादि की भक्ति-पूजादि करने से कोई मिथ्यात्व दूर नहीं होता।

७२७.



चैतन्यतत्त्व के लक्ष्य से रहित जो कुछ किया वह सब सत्य से विपरीत हुआ। सम्यग्ज्ञान की कसौटी पर रखने से उनमें से एक भी बात सच्ची नहीं निकलती। अतः जिन्हें आत्मा में अपूर्व धर्म-प्रकट करना हो उन्हें अपनी पूर्व में मानी हुयी सभी बातों को अक्षरशः मिथ्या जानकर, ज्ञान का संपूर्ण बहाव ही बदलना पड़ेगा। परंतु जो अपनी पूर्व-मान्यताओं को रखना चाहते हैं व उनके साथ उक्त (धर्म-प्रकट करने की) बात का मेल बैठाना चाहते हैं तो अनादि से चली आ रही भूल-भूलैया का नाश नहीं होता; और ऐसा नया व अपूर्व सत्य उनकी समझ में नहीं आएगा। ७३५.



सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी में वस्तुस्वरूप की ऐसी परिपूर्णता उपदिष्ट हुयी है कि प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव में पूर्ण परमेश्वर है; उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं, वैसे ही प्रत्येक जड़-परमाणु भी अपने स्वभाव से परिपूर्ण जड़ेश्वर-भगवान है। इस प्रकार चेतन व जड़, प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र व स्वतः ही परिपूर्ण है; किसी भी तत्त्व को किसी अन्य तत्त्व के आश्रय की आवश्यकता नहीं है - ऐसा समझकर

अपने परिपूर्ण आत्मा की श्रद्धा व आश्रय करना व पर का आश्रय छोड़ना ही परमेश्वर होनेका पंथ है। ७३७.



यह आत्मस्वभाव की बात - सूक्ष्म पड़े तो भी संपूर्ण मनोयोग से समझने योग्य है। आत्मा, सूक्ष्म है तो उसकी बात भी तो सूक्ष्म ही होगा। जीवने एक स्वयं को समझे बिना, अन्य सब कुछ अनंत बार किया है। आत्मा की, परम सत्य की, बात किसी विरल स्थान में ही सुनने को मिलती है। कोई उपन्यास पढ़ते हैं। कोई धर्म सुनने जाएँ तो वहाँ इधर-उधर की बातें सुनाते हैं, बाह्य-प्रवृत्ति के लिए कहते हैं; इस प्रकार बाह्य-क्रिया में संतोष बतलाकर धर्म का स्वरूप गाजर-मूली जितना सस्ता बना दिया है। आत्मस्वभाव की जो बात अनंतकाल में भी न समझी उसे समझने के लिए तुलनात्मक बुद्धि होनी चाहिए। लौकिक बात व लोकोत्तर-धर्म की बात बिल्कुल अलग-अलग हैं; तुरंत समझ में न आए तो, निषेध न करना। जो निजस्वरूप है तो समझमें न आए वह इतना कठिन नहीं हो सकता। रुचिपूर्वक अभ्यास करे तो प्रत्येक जीव अपना आत्मस्वरूप समझ सकता है। "केवल सत्-समझने की चाह होनी चाहिए"। ७३८.



बहुत जीव विकल्प का अभाव करना चाहते हैं; तथा स्थूलविकल्प अल्प हो जाने पर, विकल्प का अभाव मानते हैं। परंतु वास्तव में जिसका विकल्प का अभाव करने पर लक्ष्य है, उसके विकल्प का अभाव नहीं होता। लेकिन जिसमें विकल्प का ही अभाव है - ऐसे शुद्ध चैतन्य को लक्ष्य में लेकर एकाग्र होनेसे विकल्प का अभाव हो जाता है। मैं इस "विकल्प का निषेध करूँ" - जिसका ऐसे विकल्प का निषेध करने की ओर लक्ष्य है; उसका लक्ष्य शुद्ध

आत्मा की ओर उन्मुख ही नहीं हुआ, उल्टे विकल्प की ओर ही झुका है। अतः उसके तो विकल्प की ही उत्पत्ति होगी। 'शुद्ध आत्म-द्रव्य की ओर ढलना ही विकल्प के अभाव होनेकी रीति है। उपयोग का झुकाव अंतर्मुख स्वभाव-ओर होने पर विकल्प छूट जाते हैं। ७४०.



जगत के समस्त जीव सुख की इच्छा करते हैं; परंतु सुख का उपाय नहीं खोजते। वे दुःख की इच्छा नहीं करते परंतु दुःख के कारण में-मिथ्यात्व आदि में निरंतर संलग्न रहते हैं। सुख का उपाय तो आत्मा की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान कर उसमें एकाग्र होना है; उसके बदले अज्ञानीजीव बाह्य-पदार्थ जुटाकर उनसे सुखी होना चाहता है। ७४७.



णमो अरिहंताणं - इस प्रकार बोले, परंतु अर्हत का स्वरूप ही न जाने तो उससे कोई लाभ नहीं होता। रेकॉर्ड के बोलने व उस जीव के समझे-बिना बोलने में कोई अंतर नहीं है। जब सर्वज्ञ को पहचाने, तभी आत्मा की सर्वज्ञता की प्रतीति होती है व पुण्य-पाप तथा अल्पज्ञता की रुचि नहीं रहती। ७५३.



आम के मधुर रस की जो पर्याय है वह उसका स्वभाव है तथा उसको जानना जीव का स्वभाव है; पर वहाँ ऐसा मानना कि यह मुझे ठीक है, अज्ञानी की मिथ्या-कल्पना है। वह मिथ्या-कल्पना किसीने करवायी नहीं है, परंतु स्वयं ने मिथ्या-कल्पना की है। उसमें आम तो निमित्त मात्र है, किन्तु निमित्त कब कहा जाए ? - कि जब यहाँ नैमित्तिक है तब। निमित्त-नैमित्तिक एक ही समय में होने

पर भी दोनों स्वतंत्र हैं। आम के रस का आत्मा में अत्यंत अभाव है, अतः उसके कारण से आत्मा में कुछ हो, यह संभव नहीं है। अभाव कहना व पुनः उसीसे कुछ होना मानना - यह बात ही विरुद्ध है। ७६१.



निरपेक्ष-स्वभाव के भान-बिना, निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। स्वभाव स्व-पर-प्रकाशक है; उसमें स्व के ज्ञान-बिना, पर का भी ज्ञान नहीं होता। उपादान की स्वतंत्रता के ज्ञान बिना, निमित्त का ज्ञान नहीं होता; निश्चय-बिना व्यवहार का ज्ञान नहीं होता। जैसे त्रिकाली-द्रव्य स्वतंत्र, निरपेक्ष है; वैसे ही उसकी समय-समय की पर्याय भी निरपेक्ष व स्वतंत्र है। समय-समय की पर्याय अपने कारण से ही होती है। ७६५.



अज्ञानीजीव की पराधीन दृष्टि होनेसे शास्त्रोंमें से भी वैसा ही आशय उद्धृत कर, शास्त्रों को अपनी मान्यतानुकूल आशयवाला बनाना चाहते हैं; परंतु शास्त्रों में वैसा आशय ही नहीं है। गुरुगम-बिना, स्वच्छंदित होनेवाला जीव - शास्त्रों का अर्थ उल्टा ही करता है। ७६८.



जिसमें पाँच रुपये देनेकी भी शक्ति नहीं है, वह यदि कहे कि मैं कल एक लाख रुपया दूँगा, तो उसकी बात ही मिथ्या है। वैसे ही सुदेव-गुरु-शास्त्र की तो खबर ही नहीं है, और आत्मा की बात करें, तो वह गलत है। जिसे तत्त्व व अतत्त्व का ही पता नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञ के शासन के अतिरिक्त अखंड-आत्मा की ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं होती। ८०३.



जिन्हें ध्यानरूपी-तप की खबर ही नहीं है, वे तो बाह्य में तपस्या कर धर्म-प्राप्ति मानते हैं व शोभा-यात्रा निकालते हैं। पर अभी तो जिनके कुदेवादि की श्रद्धा ही नहीं छूटी, उनको धर्म-ध्यान नहीं हो सकता; वे तो गृहीतमिथ्यादृष्टि हैं। ऐसे जीवों को यह बात ही नहीं जचती कि आत्मा पुण्य-पाप रहित है, और आत्मा की जो धर्मक्रिया है सो उनके लक्ष्य में ही नहीं आती। वे तो जड़ की, शरीर की क्रिया में धर्म मानकर अधर्म का ही सेवन करते हैं। ८१७.



निजस्वभावरूपी-साधन द्वारा ही परमात्मा हुआ जाता है। गृहस्थाश्रम में परमात्मदशा प्राप्त नहीं होती। ज्ञानानंद के साधन द्वारा दिव्यशक्ति प्रकट करो। जिनकी दशा जीवन-मुक्त हुयी है वे अर्हतदेव हैं; (इनके) निमित्तरूप से रहे हुए चार घातिया-कर्मों का अभाव हो चुका है व अंतर-समाहित निज-अनंतशक्ति प्रकट हुयी है, वे तीनकाल व तीनलोक को एक समय में प्रत्यक्ष जानते हैं। ८१८.



कोई शास्त्र, कोई भी गाथा अथवा शब्द या किसी भी अनुयोग की बात करो-उन सभी का तात्पर्य वीतरागता है। "द्रव्य है" - ऐसा कहने में यह गर्भित है कि वह पर से भिन्न है; अतः पर के कारण से नहीं है, पर के आश्रित नहीं है। ऐसा निर्णय होने पर "पर" की रुचि टूट कर, वीतरागता हुए बिना नहीं रहती। ८२१.



अर्हतादि का स्वरूप वीतराग-विज्ञानमय होता है। इसी कारण से अर्हतादि स्तुति-योग्य महान हुए हैं। पंच-परमेष्ठी का मूल स्वरूप तो वीतराग व विज्ञानमय है। अंतर-शुद्धता हुयी तथा वह उसका

ज्ञान ही परम इष्ट है, क्योंकि जीव-तत्त्व की अपेक्षा से तो सर्व जीव समान हैं। शक्ति से तो सभी आत्मायें शुद्ध हैं। परंतु रागादि-विकार अथवा ज्ञान की हीनता की अपेक्षा से जीव निंदा योग्य है। राग-पुण्य-व्यवहाररत्नत्रय द्वारा पंच-पद नहीं पाते क्योंकि ये भाव तो अभी को भी होते हैं। इसलिए केवल व्यवहार में ही रहने वाले जीव पंचपद प्राप्त नहीं कर पाते; - तो फिर जिनके व्यवहार का भी ठिकाना न होवे तो पंचपद में हो ही कैसे सकते हैं। ८२५.



पैसे कमाने के भाव तो केवल पाप-परिणाम हैं, इनके कारण से बाह्य-अनुकूलता नहीं मिलती; उनका अन्य कोई ईश्वरादि कर्ता नहीं है, पूर्व कर्म तो मात्र निमित्त है। सच में तो ये निमित्त भी सहज ही मिल जाते हैं। अतः जिनके पाप का उदय होता है उन्हें अन्य कोई सहायता नहीं करता व पुण्य का उदय होने पर कोई विघ्न नहीं डालता। ८२९.



जो प्ररूपणा में भी वीतराग की परंपरा तोड़ते हैं और विरोध की पुष्टि करते हैं वे मिथ्यात्व की परंपरा ही प्रसारित करते हैं। जो मिथ्यादृष्टि की वंदना करते हैं - वे भी मिथ्यादृष्टि हैं।

असत्य रचनारूप महाविपरीत कार्य तो क्रोध-मान-माया-लोभ की अत्यंत तीव्रता होने पर ही होता है। ८३२.



मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। अतः जिन शास्त्रों में किसी भी प्रकार से राग-द्वेष मोहभावों का निषेध कर, वीतराग-भाव प्राप्ति का प्रयोजन प्रकट किया हो वे शास्त्र ही पढ़ने व सुनने योग्य हैं। अभी तो जिनको यही खबर नहीं है कि कौनसे शास्त्र पढ़ने-सुनने

चाहिए ? - वे कब संसार के दुःखों से छूट सकेंगे ? उनके दुःख का अभाव नहीं होता। अतः प्रथम यह निर्णय करना कि कौन से शास्त्र सच्चे हैं। ८३४.



जिन शास्त्रों में श्रृंगार-भोग कौतुहलादि के पोषण द्वारा राग-भाव की, हिंसा-युद्धादि के अनुमोदन द्वारा द्वेष-भाव की, अथवा अतत्त्व-श्रद्धान के पोषण द्वारा मोह-भाव की पुष्टि की हो वे शास्त्र नहीं; शास्त्र हैं - अतः ऐसे शास्त्रों को नहीं पढ़ना-सुनना चाहिए। ८३५.



जीव, कर्म के उदय से दुःखी नहीं है बल्कि अपने राग-द्वेष-मोह के कारण से दुःखी होता है। उस दुःख का नाश करने का एक मात्र उपाय तो वीतराग-भाव है। जो शास्त्र ऐसा बोध-उपदेश नहीं देते वे राग-द्वेष-मोह के पोषक होनेसे आत्मा के घात में निमित्त होते हैं - यानी आत्मा का पर्याय में घात होता है। अतः ऐसे शास्त्र पढ़ने-सुनने योग्य नहीं हैं। ८३६.



अज्ञानी जीव कहते हैं कि कर्म ही जीव को चक्कर खिलाते हैं - परंतु ऐसी मान्यता-भूल है। कर्म जड़ हैं, उनसे जीव नहीं घूमता; परंतु जीव अपनी ही भूल से चक्कर खाता है, तब कर्म को निमित्त कहते हैं। पहले भूल हुयी और बाद में कर्म आए - ऐसा नहीं है, तथा कर्म उदित हुए इसलिये भूल हुयी - ऐसा भी नहीं है। स्वयं भूल करें, तब कर्म निमित्तरूप होता है। ८४८.



शरीर कोई संसार नहीं है, स्त्री, कुटुंब, पैसा संसार नहीं है, और कर्म भी संसार नहीं है। यदि शरीर ही संसार हो, तो उसके

जल जाने पर संसार भी जलकर राख हो जाए व मुक्ति हो जाए; परंतु ऐसा नहीं होता। स्त्री-पुत्र में भी संसार नहीं है। "आत्मा का संसार तो आत्मा की पर्याय में है"। अज्ञानी, जो पर में संसार मानता है उसे संसार का भी पता नहीं है। तो फिर संसार-रहित मोक्ष की तो उसे खबर ही कैसे हो ? - नहीं होती है। ८४९.



अघातियाकर्म के उदय से बाह्य-सामग्री चली आती है। आत्मा के प्रयत्न से बाह्य-सामग्री नहीं मिलती। किसीको पुष्ट व किसीको दुर्बल शरीर मिलता है सो पूर्व-कर्म के कारण से। ऐसे संयोग बंध का कारण नहीं है; बल्कि आत्मा में होने वाले मिथ्यात्वादिभाव बंध का कारण है। जो ऐसा निर्णय करे तो ही मोह के नाश का उपाय हो। अतः यहाँ बतलाते हैं कि अघातियाकर्म के निमित्त से बाह्य-संयोग मिलते हैं। उसमें शरीरादि तो जीव के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाही होकर एकरूप से बंधित होते हैं व धन-कुटुंबादि बाह्यसंयोगरूप रहते हैं। पैसा तो पूर्व के अघातिकर्म का उदय उस प्रकार का हो तो ही मिलता है, वर्तमान प्रयत्न के फलस्वरूप नहीं। वर्तमान में (पैसा) जुटाने का भाव हुआ तो उस मोह के कारण नया बंध होता है, ऐसा बतलाते हैं। ८५२.



विपरीत-मान्यता व राग-द्वेषादि बंध का कारण एक ही है। गरीबी से धनाढ्य हो सो तो अघातिकर्म के निमित्त से होता है। पूर्व में जिस प्रमाण में कर्म-बंध हुए हों उसी प्रमाण में सामग्री मिलती है। वह सामग्री पैसा शरीरादि बंध का कारण नहीं है, अतः उन्हें छोड़ने से कोई बंधन नहीं छूटता। कुटुंबादि तो अघातिकर्म का ही फल हैं। कुटुंब की ममता करना तो संसारवृद्धि का कारण है, कुटुंब-

योग संसार का कारण नहीं है। जो पुत्र-पुत्री-बहू-सगे-स्त्री आदि मिले हैं सो सब आत्मा से दूर, भिन्न हैं, वे कोई दोष का कारण नहीं हैं। शरीर, इन्द्रियांदि तो एकक्षेत्रावगाही हैं - ये भी कोई बंधन का कारण नहीं हैं। तो फिर धनादि तो आत्मा से बहुत दूर हैं, वे तो पूर्व-कर्म के कारण से मिले हैं, वे आत्मा के बंध का कारण नहीं हैं। क्योंकि परद्रव्य, बंध का कारण नहीं होता - यह निश्चित करे तभी मोह-नाश का उपाय हो ? ८५३.



अशुभ-भाव, पाप-भाव होता है; अतः जो योग का कंपन होता है उसे अशुभयोग कहते हैं। लड़का-लड़की-पैसा आदि की व्यवस्था करना सो सब पाप-भाव है - अधर्म का अंग है। वह कोई कर्तव्य नहीं है, बल्कि अधर्म का अंग है। दया-दान-भक्ति आदि के भावों को शुभयोग कहते हैं। शुभयोग हो अथवा अशुभयोग, पर सम्यक्त्व-प्राप्ति बिना घातियाकर्मों का तो निरंतर बंध होता रहता है। ८५५.



जो तेरी प्रकट विशुद्ध पर्याय भी कार्यकारी नहीं होती, तो फिर धनादि उपयोगी हो सके - ऐसा संभव ही नहीं है। पाँच इन्द्रियों के विषयों को जाननेवाला लब्धरूप-ज्ञान भी जब सब विषयों में एक साथ प्रसरित नहीं होता तब वह परकार्य तक पहुँच सके - यह संभव ही नहीं है। यह समझ ले तो पर का अभिमान उड जाए व पर्यायबुद्धि छूटकर स्वभावबुद्धि हो जाए। लब्ध व उपयोगरूपपर्याय की रुचि तो छोड़ने योग्य है। चार ज्ञान व्यक्त होने पर भी एक ज्ञानरूपी कार्य ही कर सकता है व उस ज्ञान में भी एक ही विषय का ज्ञान कर सकता है तो पर का व राग का अभिमान छोड़ दे। अधूरी ज्ञान-दर्शन की पर्याय की भी रुचि छोड़कर, पूर्ण

स्वभाव की रुचि करे; तो सम्यग्ज्ञान होकर क्रमशः केवलज्ञान प्रकट होगा। ८५९.



विपरीत मान्यता में हिंसा-झूठ-चोरी-अब्रह्मचर्य व परिग्रह - ये पाँचों ही पाप समाहित हैं। मैं अनादि-अनंत ज्ञानवान हूँ - इसमें से प्रवर्तित ज्ञानपर्याय की सामर्थ्य को जो नहीं मानता तथा मैं पर को जानता हूँ - ऐसा मानता है वह स्वयं के अस्तित्व को ही उड़ाता है। ८६२.



धर्म अर्थात् वस्तु-स्वभाव तेरा स्वभाव अनादि-अनंत है। तेरी पर्याय तेरे ही अस्तित्व में है - ऐसा मानने पर यह तय होता है कि राग स्वयं के कारण से, अपनी ही निर्बलता से होता है और तभी राग दूर होने की संभावना होती है। और ऐसा माने कि ज्ञान स्वयं से है तो ज्ञान स्वभाव की ओर ढलने का अवकाश होता है। अज्ञानी को, न तो अपने ज्ञान की खबर है और न ही निर्बलता से होनेवाले राग की, अतः संसार में धक्के खाता है। ८६३.



पुस्तकें पढ़ना चाहिए। इतिहास-ज्ञान अधिक हो तो बुद्धि विकसित हो, अलग-अलग देश में जाए तो बुद्धि खिले - ऐसा माननेवाले मूढ़ ! पर के कारण से बुद्धि-विकास मानते हैं तथा अपने को ज्ञान से शून्य मानते हैं। ८६४.



जीव को मरण की पीड़ा की अपेक्षा विषयों की पीड़ा बहुत असह्य व असाध्य लगती है, अतः ज्ञानस्वभाव की प्रीति करना सुखदायक है। (अन्यथा विषयों की दाह उत्पन्न हुए बिना नहीं

रहती)। ८७१.



बाह्य-क्रिया सुधरने से मेरे परिणाम सुधरेंगे तथा मंद-कषाय के परिणाम से धर्म होता है - इस प्रकार के अभिप्राय की गंध भी अंतर में रह जानेका नाम मिथ्यावासना है। ऐसी वासना रखकर बाह्य में पंच-महाव्रत का पालन तथा दया-दानादि की चाहे जितनी क्रिया व मंदकषाय करे तो भी धर्म नहीं होता। ८८१.



कोई दान की मुख्यता कर बहुत पाप करके भी धन-उपार्जन कर, दान देता है। प्रथम पापकर धन-संग्रह करना और फिर दान करना सो न्यायपूर्ण नहीं है। पहले तो लक्ष्मी की ममता करे, और बाद में (दान द्वारा) ममता घटाए, सो योग्य नहीं है। यह तो परोपकार के नाम से पाप करना है। कोई आरंभ-त्याग की मुख्यता कर याचना करने लगते हैं। भोजन-बनाने में पाप जानकर भिखारी के जैसे मांगने जाना सो योग्य नहीं है। तथा कोई जीव अहिंसा की मुख्यता कर जल-द्वारा स्नान, शौचादि भी न करें तो वह उचित नहीं है। ८८५.



सम्यग्दृष्टि जीव, उत्कृष्टतः अंतः कोड़ा-कोड़ी सागर की पुण्य-स्थिति बांध सकता है व मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्टतः पंद्रह कोड़ा-कोड़ी सागर की पुण्य-स्थिति बांध सकते हैं। पुनः वे दोनों ही इतनी स्थिति नहीं भोग सकते; क्योंकि त्रस की उत्कृष्टि स्थिति दो हजार सागर की है। सम्यग्दृष्टिजीव की स्वभाव पर दृष्टि होनेसे, वह पुण्य-स्थिति को क्रमशः तोड़कर मोक्ष में चला जाएगा तथा मिथ्यादृष्टि जीव पर से तथा पुण्य से लाभ मानता होनेसे क्रमशः

पुण्य-स्थिति को तोड़कर, पाप-परिणाम कर, निगोद में चला जाएगा; अतः यथार्थता समझनी चाहिए। ८८७.



पर-क्षेत्र आत्मा को गुणकारक नहीं है। परद्रव्य के कारण से आत्मा में शांति रहे - ऐसा मानना तो मूढ़ता है। अंतर आत्मा में निमग्न हो जाना ही ध्यान है। बाह्य-कारणों से ध्यान या शांति नहीं होती। सोनगढ़-क्षेत्र के वातावरण से आत्मा में शांति होती है - यह बात भी मिथ्या है। ८९२.



एकांत नहीं करना - ऐसा मिथ्यादृष्टि मानता है, पर वह व्यवहारनय को अंगीकार करने का अर्थ ही नहीं जानता। आत्मा की पर्याय में राग होता है - इसको सम्यक् प्रकार से जानना ही, व्यवहारनय को अंगीकार करना है। आत्मा में अल्पज्ञान की पर्याय है, ऐसे जानना कि - मेरी पर्याय अल्पज्ञानरूप है - वही व्यवहारनय है। अज्ञानी तो राग का आदर करने को ही व्यवहारनय कहता है। उसने तो वीतराग-भाव तथा रागभाव दोनों ही से लाभ माना है - वही एकांत है। ८९७.



आत्मा का शुद्ध-स्वरूप ज्ञाता है। उनकी रुचि होनेके समय जो राग होता है वह निमित्त है। परंतु उससे वीतरागता नहीं होती। साधक-दशा में राग है ही नहीं - ऐसा नहीं है। यानी, निमित्त है ही नहीं - वैसा नहीं है। निमित्त को बदलना नहीं है, उसे आगे-पीछे करना स्वभाव में ही नहीं है। बाह्य-क्रिया तो आत्मा के हाथ की बात ही नहीं है। परंतु अशुभभाव को छोड़कर शुभभाव का कर्तृत्व भी पर्यायबुद्धि है, भ्रमबुद्धि है। वस्तु ज्ञायकस्वभावी है -

ऐसा वह मानता ही नहीं। ८९८.



केवल विकल्प से ही तत्त्वविचार किया करे, वैसा जीव भी सम्यक्त्व नहीं पाता। अंतर में चैतन्यस्वभाव की महिमा कर उसकी निर्विकल्प-अनुभूति करना ही सम्यग्दर्शन है। ९०४.



जिनसे ज्ञान मिला हो उनका विनय, शास्त्र का विनय करना चाहिए। ज्ञानी से मर्म समझने पर भी यदि कहे कि हमारे शास्त्रों में भी ऐसी ही बात है व मैं भी ऐसा ही मानता था, हमारे में भी निश्चय तथा व्यवहार दोनों ही हैं - ऐसा माननेवाला तो व्यवहार से भी चोर है। आत्मभान न होनेसे वह निश्चय का तो चोर है ही। अतः ऐसा अविनय नहीं करना चाहिए। ९१०.



प्रथम तो सत्य-समझने की जिज्ञासा होनी चाहिए। अनादि से भूल होती आ रही है। परंतु सच्ची बात-समझने का प्रसंग मिले तो वह भूल मिटे। जो भूल को, भूल ही न माने तो वह भूल कभी नहीं टलती। ९११.



जीव, विकार तथा स्वभाव को एक मान रहा है, अतः यथार्थ विचार नहीं कर पाता। वह यदि मिथ्या-धारणा में अवकाश बनाकर जाने कि विकार कृत्रिम है तथा स्वभाव निरूपाधिस्वरूप है तो भेदज्ञान का अवसर आए, परंतु अज्ञानी ने तो उन दोनों में एकता मानी है। दया-दानादि से धर्म होनेकी मान्यता अर्थात् मिथ्यादर्शन के बल से वह उन दोनों में भेद नहीं करता। व्यवहार करें, कषाय को मंद करें तो धर्म हो - ऐसी विपरीतश्रद्धा, स्वभाव व विभाव को

पृथक् जाननेरूप विचार भी नहीं करने देती। ९२९.



जैसे कुत्ता लकड़ी के प्रति द्वेष करता है और मारनेवाले की ओर नहीं देखता; वैसे ही अज्ञानी पर-जीवों के प्रति राग-द्वेष करता है, पर अपने पूर्व-कर्मानुसार संयोग मिलते हैं - इस बात पर दृष्टि नहीं देता। ९३९.



आत्मा के अनुभव-बिना संसार का नाश नहीं होता। तप करना, उपवास करना - ये सब राग का रस है। जिस व्यवहार के कारण संसार-भ्रमण होता है उसे जीव कैसे भला जानकर सेवन करता है ? जिसे व्यवहार अथवा दानादि के भाव अच्छे लगते हैं वह मिथ्यादृष्टि है, तथा दुःख को प्राप्त होता है; तथा जिसने दया-दान, हर्ष-शोक के भावों को भला माना है उसने मिथ्यात्व-रूपी मद पी रखा है। उसे आस्रव भला लगता है, अनास्रवी-आत्मा अच्छा नहीं लगता। तूँ भ्रम से भूला हुआ है, अतः, इस दृष्टिपूर्वक अनुभव कर - वही एक मात्र धर्म की रीत है। ९४०.



निश्चय से आत्मा शुद्ध है। पर उसकी पर्याय में रागादि, अशुद्धता होने पर भी जो पर्याय अपेक्षा से भी वर्तमान में शुद्ध मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। मोक्षमार्ग में तो रागादिक मिटाने का श्रद्धान, ज्ञान व आचरण करना होता है। जिसके द्वारा विकार का नाश हो वही मोक्षमार्ग है। श्रद्धा में विकार का आदर नहीं, ज्ञान में विकार उपादेय नहीं तथा आचरण में भी राग न करे - यही मोक्षमार्ग है। ९४४.



प्रश्न :- शास्त्र में तो ऐसा उपदेश है कि प्रयोजनभूत तो अल्प भी जानना कार्यकारी है, अतः विकल्प किस लिए करना ?

उत्तर :- सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थ का ज्ञान आवश्यक है। जो जीव बहुत जानता है पर प्रयोजनभूत-बात नहीं जानता उसे निर्देश दिया है कि प्रयोजनभूत को जानो। अथवा जिसमें बहुत जानने-समझने की योग्यता नहीं है उसके लिए उक्त उपदेश है। जो अल्पबुद्धि है, उसको कहा गया है कि अल्प ही पर प्रयोजनभूत जानो। ९४५.



“मैं तो ज्ञायक आत्मा हूँ” - ऐसी सामान्य-दृष्टि तो सदा ही रखनी चाहिए। सामान्य आत्मा पर दृष्टि रखते हुए विशेष ज्ञान करना ही निर्मलता का कारण है। अज्ञानी तो ऐसा एकांत तर्क करता है कि विशेष ज्ञान से विकल्प होते हैं, उसे समझाया है कि ज्ञान की विशेषता तो निर्मलता का कारण है। ९४६.



आत्मा का हित तो मोक्ष ही है। संसार-अवस्था में दुःख है; वहाँ दुःख चाहे अल्प हो या अधिक, किन्तु सुख बिल्कुल भी नहीं है। चारों गतियों में दुःख है। आकुलता ही दुःख है। स्वर्ग की इच्छा-वश पुण्य करे अथवा नरक-तिर्यच के दुःखों के भय से पाप न करे - तो उससे कल्याण नहीं है; उसमें तो आकुलता है, शांति नहीं। “आकुलता सो दुःख है व निराकुलता सो सुख है” - ऐसा निर्णय किए बिना, मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं हो सकता। ९५८.



प्रश्न :- उपवासादि करना या नहीं ?

उत्तर :- जिस क्षण आहार मिलने वाला नहीं है, उस क्षण

तूँ आहार कर - ऐसा नहीं कहा जाता। और जिस क्षण राग की मंदता होनी है, वह न करे - यों भी नहीं कहा जाता। पुनः राग चाहे तीव्र हो अथवा मंद, पर वह धर्म नहीं है। जिस समय जो राग उठता है उसका निषेध नहीं किया जा सकता; और यदि आहार न मिलने वाला हो तो उसे पानेके लिए नहीं कहा जा सकता। “में तो चैतन्यस्वभावी हूँ, राग की मंदता करने वाला नहीं” - जो ऐसी रुचि, ज्ञान व एकाग्रता का पुरुषार्थ करता है उसे तथानुकूल विकल्प व निमित्त होते ही हैं। परंतु राग अथवा निमित्त-हेतु प्रयत्न नहीं करना पड़ता। मोक्ष-उपाय करना ही इस उपदेश का तात्पर्य है। निमित्त जुटाना या राग करना आदि रूप अभिप्राय इस उपदेश में है ही नहीं। ९५९.



स्वभाव की सामर्थ्य, विकार की विपरीतता तथा संयोगों की भिन्नता का निर्णय करे तो सम्यग्दर्शन हो। स्वयं समझपूर्वक दिशा-बदले तो कार्यकारी हो। निमित्त, राग व पर्याय की रुचि छोड़कर, स्वभाव की रुचि करे - तो सभी पुरुषार्थ सच्चा है। ९६०.



कदाचित् लाखों मनुष्य उपदेश के निमित्त से समझे, परंतु उससे उपदेशक को लाभ नहीं है। वाणी का परिणमन आत्मा के आधीन नहीं है। परद्रव्य का परिणमन भिन्न है। जीव-अजीव का श्रद्धान कर निज-हितार्थ पर से उदासीन होनेका शास्त्र निर्देश है। परंतु मैं पर के निमित्त से उदासीन होऊँ - ऐसी नहीं कहा है। ९६४.



प्रश्न :- विपरीत-अभिनिवेश रहित श्रद्धान करने के लिए कहा, उसका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :: अभिनिवेश का अर्थ अभिप्राय होता है, जैसा कि तत्त्वार्थ-श्रद्धान का अभिप्राय है। उससे विपरीत-अभिप्राय होने पर विपरीत-अभिनिवेश होता है। जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा ही अभिप्राय होना चाहिए। तत्त्वार्थ-श्रद्धान करने का अभिप्राय उसका निश्चय करना मात्र ही नहीं है; परंतु जीव-अजीव को भिन्न जानकर, अपने को पर से भिन्न जानना है। ९६६.



आत्मा की श्रद्धा में सातों तत्त्वों की श्रद्धा गर्भित है, परंतु इस बहाने कोई सामान्यरूप से स्व पर को अथवा आत्मा को जानकर ही कृतकृत्यता मान ले तो, वह तो भ्रमणा है। पुण्य-पाप, दया-दानादि-विकार हेय है, यह भासित हुए बिना आत्मा का सच्चा ज्ञान नहीं होता। जो बंध के फल को हितकर मानता है वह बंध को ही हितकारी मानता है। इस प्रकार कोई जीव सामान्य रूप से केवल आत्मा को ही जान कर कहे कि मेरा कार्य पूरा हो गया - तो यह तो भ्रमणा है। ९७०.



निर्विकल्प-दशा, प्रकट होनेकी अपेक्षा से नव-तत्त्वों के विकल्प छोड़ने की बात की है। नव तत्त्वों का ज्ञान तो है परंतु उनके भेदों के लक्ष्य से राग होता है अतः उन्हें छोड़ने का निर्देश दिया है। ज्ञान, नव-तत्त्वों को जाने सो राग का कारण नहीं है वरन् वह तो निश्चय सम्यक्त्व है। नव तत्त्वों का ज्ञान तो यथार्थरूप से करना है, परंतु उनके विषय में उठने वाले विकल्पों का निषेध किया है। ९७३.



जो सच्चे मुनि के उपदेश का मर्म बतलानेवाला तथा जैन-

धर्म का श्रद्धालु हो, उसी वक्ता का उपदेश सुनना योग्य है। परंतु जो मिथ्यादृष्टि हो, शिष्यों को बनाए रखने का लालची हो, धनादि का लोभी हो, वैसे वक्ता का उपदेश नहीं सुनना चाहिए। मात्र धर्मोपदेश-दाता ही अपना व दूसरों का भला करते हैं। परंतु जो कषायवश उपदेश देते हैं वे अपना बुरा करते हैं और दूसरों के बुरा होनेमें निमित्त होते हैं। ऐसा वक्ता का स्वरूप है। ९७६.



जिसकी भली होनहार है उसी जीव को ऐसा विचार आता है कि "मैं कौन हूँ ? मैंने कहाँ से आकर यहाँ जन्म लिया ? मर कर कहाँ जाऊँगा ? मेरा क्या स्वरूप है ? यह कैसा चरित्र-निर्माण हो रहा है ? आदि। वह इनके निर्णय में लगता है कि आत्मा, शून्यमें से आया है अथवा पूर्व-भवमें से ? मैंने कौन से कुल में जन्म लिया है ? मैं कौन हूँ तथा मर कर कहाँ जाऊँगा अर्थात् इस देह के छुटने पर कहाँ स्थिति होगी ? ऐसा विचारवान श्रोता होना चाहिए। मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ? और यह सब वर्तन कैसे हो रहा है ? खाना-पीना, व्यापार-धंधा आदि हो रही क्रियाएँ क्या हैं ? मुझे ये जो भाव होते हैं अर्थात् कुटुंब-व्यापार-शरीरादि संबंधित होने वाले पाप-भावों का क्या फल होगा ? और यह जीव कैसे दुःखी हो रहा है। - ऐसे विचार करनेवाला ही योग्य श्रोता है। जिसको दुःख ही नहीं लगता वह पात्र श्रोता नहीं है। ९७७.



सम्यग्दृष्टि, निर्विकल्प-अनुभव में नहीं रह सकते इसलिए उन्हें भी शास्त्राभ्यास के भाव उठते हैं। ऐसे शुभराग को, निर्विकल्प-अनुभव की अपेक्षा हेय कहा है। निर्विकल्प-अनुभव में रहना तो सर्वोत्तम

है। परंतु, छद्मस्थ का उपयोग नीचली-दशा में आत्मस्वरूप में अधिक समय तक स्थिर नहीं रह पाता, अतः ज्ञान की विशेष निर्मलता हेतु शास्त्राभ्यास में बुद्धि लगाना योग्य है। निश्चयाभासी तो उसका सर्वथा निषेध करता है; परंतु अरे भाई ! तुझे अन्य राग तो आते हैं तो फिर शास्त्राभ्यास में ही उपयोग लगाना योग्य है। उसमें जो राग है, सो तो दोष है; परंतु तीव्र (अप्रशस्त) राग की अपेक्षा शास्त्राभ्यास में संलग्न रहना योग्य है। सम्यग्दर्शन होने पर कोई पूर्ण वीतरागता नहीं हो जाती। सम्यग्दर्शन होनेके बाद भी राग तो आता है। हाँ, जो निर्विकल्प-आनंद में ज्ञान-पर्याय एकाग्र हो जाए तो श्रेयस्कर है; परंतु जब निर्विकल्प-आनंद में न रह सके, तब स्वाध्याय, पूजा, देव-गुरु की भक्ति आदि प्रशस्त राग-कार्यों को छोड़कर, विकथा आदि निंदनीय-प्रवृत्तियों में लगने से तो महान् अनर्थ होता है। ९८३.



राग तो, चाहे अधिक हो अथवा अल्प, खराब ही है; परंतु १०५ डिग्री की अपेक्षा से १०१ डिग्री का ज्वर अच्छा कहलाता है। उसी प्रकार शुद्धोपयोग न हो तो तब अशुभभाव से हटकर शुभभाव में प्रवर्तन करना योग्य है। इस बात के मर्म को न समझे तो या तो एकांत शुभभाव में जुड़ जाए या शुभ को छोड़कर अशुभ में भटक जाता है। पर जो शुद्धोपयोग का अभ्यास नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है। वीतराग-मार्ग तो अलौकिक मार्ग है, उसे समझने के लिए बहुत पुरुषार्थ चाहिए। ९८७.



जिनागम में व्यवहार की मुख्यता से उपदेश है; परंतु व्यवहार की मुख्यता से धर्म-लाभ होता है, ऐसा कथन कहीं भी नहीं है।

फिर भी अज्ञानी जीव पराश्रय-भावों को भला मानकर, बाह्य-साधनादि का ही श्रद्धान करता है, उसे धर्म के सर्व-अंग अन्यथारूप फलित होकर - मिथ्यात्वभाव को प्राप्त होते हैं। ९९२.



दिगंबर-जैनमत का अनुयायी होने पर भी जिसे यथार्थ वस्तुस्वरूप का पता नहीं है, जो केवल व्यवहार में, राग में ही धर्म मानता है तथा मात्र कुल-परंपरा से ही अपने को धर्मी मानता है और सत्य का निर्णय नहीं करता...वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। ९९४.



जो जीव, आजीविका-हेतु व्रतादि धारण करता है, विवाहादि संबंध होनेकी आशासे, मानादि के अर्थ से, भोजनादि की सुविधा-हेतु, इत्यादि विषय-कषाय संबंधी प्रयोजन की सिद्धि के लिए कपट से जैनी होता है, वह तो पापी है। जैनधर्म तो संसार के नाश के लिए है, उसे संसार-पोषण का साधन बनाना तो घोर अन्याय है। ९९५.



जीव, वर्तमान-उदय में इतना रचा-पचा रहता है कि "भावी के सादि-अनंतकाल में मेरा क्या होगा" ? - इस विचार पर उसका वजन ही नहीं आता। ९९८.



वस्तु की सिद्धि करने के लिए दो नय हैं, लेकिन मोक्षमार्ग तो एक को ही मुख्य करने से होता है। व्यवहारनय की उपेक्षा ही उसकी (निश्चयनय की) सापेक्षता है। ९९९.



जिज्ञासु जीव को सत्य का स्वीकार होनेके लिए अंतर-विचार में सत्य-समझने का अवकाश अवश्य रखना चाहिए। १००७.



[बहिनश्री के वचनामृतमें से उद्धृत रत्न]

हे जीव ! तुझे कहीं न रुचता हो तो अपना उपयोग पलट दे और आत्मा में रुचि लगा। आत्मा में रुचे ऐसा है। आत्मा में आनंद भरा है; वहाँ अवश्य रुचेगा। जगत में कहीं रुचे ऐसा नहीं है परंतु एक आत्मा में अवश्य रुचे ऐसा है। इसलिये तू आत्मा में रुचि लगा। १.



भीतर आत्मदेव बिराजमान है उसकी सँभाल कर। अब अंतर में जा, और तृप्त हो। अनंत गुणस्वरूप आत्मा को देख, उसकी सँभाल कर। वीतरागी आनंद से भरपूर स्वभाव में क्रीड़ा कर, उस आनंदरूप सरोवर में केलि कर-उसमें रमण कर। २६.



आकाश-पाताल भले एक हो जायें परंतु भाई ! तू अपने ध्येय को मत चूकना, अपने प्रयत्न को मत छोड़ना। आत्मार्थ को पोषण मिले वह कार्य करना। जिस ध्येय पर आरूढ़ हुआ उसे पूर्ण करना, अवश्य सिद्धि होगी। ५१.



शरीर शरीर का कार्य करता है, आत्मा आत्मा का कार्य करता है। दोनों भिन्न-भिन्न स्वतंत्र हैं, उनमें 'यह शरीरादि मेरे' ऐसा मानकर सुख-दुःख न कर, ज्ञाता बन जा। देह के लिये अनंत भव व्यतीत

हुए; अब, संत कहते हैं कि अपने आत्मा के लिये यह जीवन अर्पण कर। ५२.



अनुकूलता में नहीं समझता तो भाई ! अब प्रतिकूलता में तो समझ ! किसी प्रकार समझ...समझ, और वैराग्य लाकर आत्मा में जा। ५४.



जीव स्वयं पूरा खो गया है वह नहीं देखता, और एक वस्तु खों गई तो मानों स्वयं पूरा खो गया, रुक गया; रुपया, घर, शरीर, पुत्रादि में तू रुक गया है। अरे ! विचार तो कर कि तू सारे दिन कहाँ रुका रहा ! बाहर का बाहर ही रुक गया, तो भाई ! वहाँ आत्मप्राप्ति कैसे होगी ? ५६.



पूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से स्वयं जिस तत्त्व को ग्रहण किया हो उसका मंथन करना चाहिये। निवृत्तिकाल में अपनी परिणति में रस आये ऐसी पुस्तकों का पठन करके अपनी लगन को जागृत रखना चाहिये। आत्मा के ध्येयपूर्वक, अपनी परिणति में रस आये ऐसे विचार-मंथन करने पर अंतर से अपना मार्ग मिल जाता है।

५७.



अनादिकाल से अज्ञानी जीव संसार में भटकते-भटकते, सुख की लालसा में विषयों के पीछे दौड़ते-दौड़ते, अनंत दुःखों को सहता रहा है। कभी उसे सच्चा सुख बतलानेवाले मिले तो शंका रखकर अटक गया, कभी सच्चा सुख बतलानेवाले की उपेक्षा करके अपना सच्चा स्वरूप प्राप्त करने से वंचित रहा, कभी पुरुषार्थ किये बिना

अटका रहा, कभी पुरुषार्थ किया भी तो थोड़े से पुरुषार्थ के लिये वहाँ से अटका और गिरा। - इस प्रकार जीव अपना स्वरूप प्राप्त करने में अनंत बार अटका। पुण्योदय से यह देह प्राप्त हुआ, यह दशा प्राप्त हुई, ऐसे सत्पुरुष का योग मिला; अब यदि पुरुषार्थ नहीं करेगा तो किस भव में करेगा ? हे जीव ! पुरुषार्थ कर; ऐसा सुयोग एवं सच्चा आत्मस्वरूप बतलानेवाले सत्पुरुष बार-बार नहीं मिलेंगे। ६०.



अनंत काल से जीव को स्व से एकत्व और पर से विभक्तपने की बात रुचि ही नहीं। जीव बाहर से भूसी कूटता रहता है परंतु अंदर का जो कस - आत्मा - है उसे नहीं खोजता। राग-द्वेष की भूसी कूटने से क्या लाभ है ? उसमें से दाना नहीं निकलेगा। पर से एकत्वबुद्धि तोड़कर भिन्न तत्त्व को - अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष एवं असंयुक्त आत्मा को- जाने, तो कार्य हो। ७७.



संसार की अनेक अभिलाषारूप क्षुधा से दुःखित मुसाफिर ! तू विषयों के लिये क्यों तरसता है ? वहाँ तेरी भूख शांत नहीं होगी। अंतर में अमृतफलों का चैतन्यवृक्ष लगा है उसे देख तो अनेक प्रकार के मधुर फल एवं रस तुझे प्राप्त होंगे, तू तृप्त-तृप्त हो जायगा। ९०.



आचार्यदेव करुणा करके जीव को जगाते हैं :- जाग रे ! भाई, जाग। तुझे निद्रा में दिशा नहीं सूझती। तू अपनी भूल से ही भटका है। तू स्वतंत्र द्रव्य है; भूल करने में भी स्वतंत्र है। तू परिभ्रमण के समय भी शुद्ध पदार्थ रहा है। यह कोई महिमावान

वस्तु तुझे बतला रहे हैं। तू अंदर गहराई में उतरकर देख, असली तत्त्व को पहिचान। तेरा दुःख टलेगा, तू परम सुखी होगा। १२१.



तू आत्मा में जा तो तेरा भटकना मिट जायगा। जिसे आत्मा में जाना हो वह आत्मा का आधार लेता है। १२२.



आत्मा न्यारे देश में निवास करनेवाला है; पुद्गल का या वाणी का देश उसका नहीं है। चैतन्य चैतन्य में ही निवास करनेवाला है। गुरु उसे ज्ञानलक्षण द्वारा बतलाते हैं। उस लक्षण द्वारा अंतर में जाकर आत्मा को ढूँढ़ ले। १२५.

भगवान की आज्ञा से बाहर पाँव रखेगा तो डूब जायगा। अनेकांत का ज्ञान कर तो तेरी साधना यथार्थ होगी। १२९.



एक-एक दोष को ढूँढ़-ढूँढ़कर टालना नहीं पड़ता। अंतर में दृष्टि स्थिर करे तो गुणरत्नाकर प्रगट हो और सर्व दोषों का चूरा हो जाय। आत्मा तो अनादि-अनंत गुणों का पिण्ड है। १३५.



चैतन्यपरिणति ही जीवन है। बाह्य में तो सब अनंत बार मिला, वह अपूर्व नहीं है, परंतु अंतर का पुरुषार्थ ही अपूर्व है। बाह्य में जो सर्वस्व मान लिया है उसे पलटकर स्व में सर्वस्व मानना है।

१३७.



स्वरूप की शोध में तन्मय होने पर, जो अनेक प्रकार के विकल्पजाल में फिरता था वह आत्मा के सन्मुख होता है। आत्मस्वरूप का अभ्यास करने से गुणों का विकास होता है। १४३.



राजा के दरबार में जाना हो तो आसपास घूमता रहता है और फिर एक बार अंदर घुस जाता है; उसी प्रकार स्वरूप के लिये देव-शास्त्र-गुरु की समीपता रखकर अंदर जाना सीखे तो एक बार निज घर देख ले। १५३.



महान पुरुष की आज्ञा मानना, उनसे डरना, यह तो तुझे अपने अवगुण से डरने के समान है; उसमें तेरे क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि अवगुण दबते हैं। सिर पर महान पुरुष के बिना तेरा कषाय के राग में - उसके वेग में बह जाना संभव है और इसलिये तू अपने अवगुण स्वयं नहीं जान सकेगा। महान पुरुष की शरण लेनेसे तेरे दोषों का स्पष्टीकरण होगा तथा गुण प्रगट होंगे। गुरु की शरण लेनेसे गुणनिधि चैतन्यदेव की पहिचान होगी। १५७.



एक चैतन्य को ही ग्रहण कर। सर्व ही विभावों से परिमुक्त, अत्यंत निर्मल निज परमात्मतत्त्व को ही ग्रहण कर, उसीमें लीन हो, एक परमाणुमात्र की भी आसक्ति छोड़ दे। १७०.



ध्यान वह साधकका कर्तव्य है। परंतु वह तुझ से न हो तो श्रद्धा तो बराबर अवश्य करना। तुझ में अगाध शक्ति भरी है; उसका यथार्थ श्रद्धान तो अवश्य करने योग्य है। १७९.



अपनी दृष्टि की डोर चैतन्य पर बाँध दे। पतंग आकाश में उड़ाये परंतु डोर हाथ में रहती है, उसी प्रकार दृष्टि की डोर चैतन्य में बाँध दे, फिर भले उपयोग बाहर जाता हो। अनादि-अनंत अद्भुत आत्मा का - परम पारिणामिक भावरूप अखण्ड एक

भाव का - अवलंबन ले। परिपूर्ण आत्मा का आश्रय करेगा तो पूर्णता आयगी। गुरु की वाणी प्रबल निमित्त है परंतु समझकर आश्रय तो अपने को ही करना है। १८९.



हे जीव ! अनंत काल में शुद्धोपयोग नहीं किया इसलिये तेरी कर्मराशि क्षय नहीं हुई। तू ज्ञायक में स्थिर हो जा तो एक श्वासोच्छ्वास में तेरे कर्मों का क्षय हो जायगा। तू भले ही एक है परंतु तेरी शक्ति अनंत है। तू एक और कर्म अनंत; परंतु अनंत शक्तिवान तू एक ही सब का सामना करने के लिये पर्याप्त है। तू सोता है इसलिये सब आते हैं, तू जाग जाये तो सब अपने आप भाग जायँगे। २०७.



बाह्य दृष्टि से कहीं अंतर्दृष्टि प्रगट नहीं होती। आत्मा बाहर नहीं है; आत्मा तो अंतर में ही है। इसलिये तू अन्यत्र कहीं मत जाना, परिणाम को कहीं भटकने मत देना; उन्हें एक आत्मा में ही बारंबार लगा; बारंबार वहीं जाना, उसीको ग्रहण करना। आत्मा की ही शरण में जाना। बड़े के आश्रय से ही सब प्रगट होता है। अगाध शक्तिवान चैतन्यचक्रवर्ती को ग्रहण कर। उस एक को ही ग्रहण कर। उपयोग बाहर जाये परंतु चैतन्य का अवलंबन उसे अंतर में ही लाता है। बारंबार...बारंबार ऐसा करते...करते...करते (स्वरूप में लीनता जमते...जमते) क्षपकश्रेणी प्रगट होकर पूर्ण हो जाता है। जो वस्तु है उसी पर अपनी दृष्टि की डोर बाँध, पर्याय के अवलंबन से कुछ नहीं होगा। २०८.



जैसे राजा अपने महल में दूर-दूर अंतःपुर में रहता है वैसे

ही चैतन्यराजा दूर-दूर चैतन्य के महल में ही निवास करता है; वहाँ जा। २०९.



वस्तु के स्वरूप को सब पहलुओं से ज्ञान में जानकर अभेदज्ञान प्रगट कर। अंतर में समाये सो समाये; अनंत-अनंत काल तक अनंत-अनंत समाधिसुख में लीन हुए। 'रे ज्ञानगुण से रहित बहुजन पद नहीं यह पा सके'। इसलिये तू उस ज्ञानपद को प्राप्त कर। उस अपूर्व पद की खबर बिना कल्पित ध्यान करे, परंतु चैतन्यदेव का स्वरूप क्या है, ऐसे रत्नराशि समान उसके अनंत गुणों का स्वामी कैसा है - वह जाने बिना ध्यान कैसा ? जिसका ध्यान करना है उस वस्तु को पहिचाने बिना, उसे ग्रहण किये बिना, ध्यान किसके आश्रय से होगा ? एकाग्रता कहाँ होगी ? २११.



एक सत्-लक्षण आत्मा - उसीका परिचय रखना। 'जैसा जिसको परिचय वैसी उसकी परिणति'। तू लोकाग्र में विचरनेवाला लौकिक जनों का संग करेगा तो वह तेरी परिणति पलट जानेका कारण बनेगा। जैसे जंगल में सिंह निर्भयरूप से विचरता है उसी प्रकार तू लोक से निरपेक्षरूप अपने पराक्रम से - पुरुषार्थ से - अंतर में विचरना। २१२.



सद्गुरु के उपदेशरूप निमित्त में (निमित्तपने की) पूर्ण शक्ति है, परंतु तू तैयार न हो तो ? - तू आत्मदर्शन प्रगट न करे तो ? अनंत-अनंत काल में अनेक संयोग प्राप्त हुए परंतु तूने अंतर में डुबकी नहीं लगायी ! तू अकेला ही है; सुख-दुःख भोगनेवाला, स्वर्ग या नरक में गमन करनेवाला केवल तू अकेला ही है।

“मरता अकेला जीव एवं जन्म एकाकी करे।

पाता अकेला ही मरण अरु मुक्ति एकाकी करे।।”

- तू अकेला ही मोक्ष जानेवाला है, इसलिये तू आत्मदर्शन प्रगट कर।

गुरु की वाणी सुनकर विचार कर, प्रतीति कर और स्थिर हो; तो तुझे अनंत ज्ञान एवं सुख का धाम ऐसे निज आत्मा के दर्शन होंगे। २१४.



चाहे जैसे कठिन समय में अपने ज्ञान-ध्यान का समय निकाल लेना चाहिये। यह अमूल्य जीवन चला जा रहा है। इसे व्यर्थ नहीं गँवाना। २१९.



ज्ञायकपरिणति का दृढ़ अभ्यास करो। शुभ भाव के कर्तृत्व में भी समस्त लोक का कर्तृत्व समाया हुआ है। २२०.



मुनि को संयम, नियम और तप - सब में आत्मा समीप होता है। अहा ! तू तो आत्मा की साधना करने निकला है...वहाँ यह लौकिक जनों के परिचय का रस क्यों ?

तुझे शुद्धि बढ़ाना हो, दुःख से छूटने की भावना हो, तो अधिक गुणवाले या समान गुणवाले आत्मा के संग में रहना।

लौकिक संग तेरा पुरुषार्थ मंद होनेका कारण होगा। विशेष गुणी का संग तेरे चैतन्यतत्त्व को निहारने की परिणति में विशेष वृद्धि का कारण होगा।

अचानक आ पड़े असत्संग में तो स्वयं पुरुषार्थ रखकर अलग रहे, परंतु स्वयं रसपूर्वक यदि असत्संग करेगा तो अपनी परिणति

मंद पड़ जायगी।

- यह तो स्वरूप में झूलते हुए मुनियों को (आचार्यदेव की) सीख है। निश्चय-व्यवहार की संधि ही ऐसी है। इस प्रकार अपनी भूमिकानुसार सबको समझ लेना है। २२९.



यदि तुझे अपना परिभ्रमण मिटाना हो तो अपने द्रव्य को तीक्ष्ण बुद्धि से पहिचान ले। यदि द्रव्य तेरे हाथ में आ गया तो तुझे मुक्ति की पर्याय सहज ही प्राप्त हो जायगी। २३८.



अरे जीव ! अनंत-अनंत काल बीत गया, तूने पर का तो कभी कुछ किया ही नहीं; अंतर में शुभाशुभ विकल्प करके जन्म-मरण किये हैं। अब अनंत गुणों का पिंड ऐसा जो निज शुद्धात्मा उसे बराबर समझकर, उसीमें तीक्ष्ण दृष्टि करके, प्रयाण कर; उसीका श्रद्धान, उसकी अनुभूति, उसीमें विश्राम कर। २४०.



चैतन्यदेव की ओट ले, उसकी शरण में जा; तेरे सब कर्म टूटकर नष्ट हो जायँगे। चक्रवर्ती मार्ग से निकले तो अपराधी लोग काँप उठते हैं, फिर यह तो तीन लोक का बादशाह - चैतन्यचक्रवर्ती ! उसके समक्ष जड़कर्म खडे ही कैसे रह सकते हैं ? २४२.



विश्व का अद्भुत तत्त्व तू ही है। उसके अंदर जाने पर तेरे अनंत गुणों का बगीचा खिल उठेगा। वहीं ज्ञान मिलेगा, वहीं आनंद मिलेगा; वहीं विहार कर। अनंत काल का विश्राम वहीं है। २४८.



तू अंतर में गहरे-गहरे उतर जा, तुझे निज परमात्मा के दर्शन

होंगे। वहाँ से बाहर आना तुझे सुहायगा ही नहीं। २४९.



भेदज्ञान के लक्ष से विकल्पात्मक भूमिका में आगम का चिंतवन मुख्य रखना। विशेष शास्त्रज्ञान मार्ग की चतुर्दिशा सूझने का कारण बनता है; वह सत्-मार्ग को सुगम बनाता है। २५२.



अंतर का अपरिचित मार्ग; अंतर में क्या घटमाल चलती है उसका आगम एवं गुरु की वाणी से ही निर्णय किया जा सकता है। भगवान की स्याद्वाद-वाणी ही तत्त्व का प्रकाशन कर सकती है। जिनेन्द्रवाणी और गुरुवाणी का अवलंबन साथ रखना; तभी तू साधना के डग भर सकेगा। २५५.



साधकदशा की साधना ऐसी कर कि जिससे तेरा साध्य पूरा हो। साधकदशा भी अपना मूल स्वभाव तो है नहीं। वह भी प्रयत्नरूप अपूर्ण दशा है, इसलिये वह अपूर्ण दशा भी रखने योग्य तो है ही नहीं। २५६.



शुद्ध द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करके तथा अशुद्धता को ख्याल में रखकर तू पुरुषार्थ करना, तो मोक्ष प्राप्त होगा। २५७.



आत्मा जाननेवाला है, सदा जागृतस्वरूप ही है। जागृतस्वरूप ऐसे आत्मा को पहिचाने तो पर्याय में भी जागृति प्रगट हो। आत्मा जागती ज्योति है, उसे जान। २६५.



आत्मा ज्ञानप्रधान अनंत गुणों का पिण्ड है। उसके साथ अंतर

में तन्मयता करना वही कर्तव्य है। वस्तुस्वरूप को समझकर 'में' तो ज्ञायक हूँ ऐसी लगन लगाये तो ज्ञायक के साथ तदाकारता हो। २९०.



जीव राग और ज्ञान की एकता में उलझ गया है। निज अस्तित्व को पकड़े तो उलझन निकल जाये। 'में' ज्ञायक हूँ ऐसा अस्तित्व लक्ष में आना चाहिये। 'ज्ञायक के अतिरिक्त अन्य सब पर है' ऐसा उसमें आ जाता है। ३०१.



तू अपने को देख; जैसा तू है वैसा ही तू प्रगट होगा। तू महान देवाधिदेव है; उसकी प्रगटता के लिये उग्र पुरुषार्थ एवं सूक्ष्म उपयोग कर। ३०५.



अनादि काल से एकत्वपरिणमन में सब एकमेक हो रहा है, उसमें से 'में' मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ इस प्रकार भिन्न होना है। गोसलिया के दृष्टांत की भाँति जीव विभाव में मिल गया है। जिस प्रकार गोसलिया ने अपनी कलाई में बँधा हुआ डोरा देखकर अपने को भिन्न पहिचान लिया, उसी प्रकार 'ज्ञानडोरा' की ओर यथार्थ लक्ष करके 'में' मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ इस प्रकार अपने को भिन्न पहिचान लेना है। ३१२.



खण्डखण्डरूप ज्ञान का उपयोग भी परवशता है। परवश सो दुःखी और स्ववश सो सुखी है। शुद्ध शाश्वत चैतन्यतत्त्व के आश्रयरूप स्ववशता से शाश्वत सुख प्रगट होता है। ३१४.



विभाव से पृथक् होकर चैतन्यतत्त्व को ग्रहण कर। यही करना है। पर्याय सन्मुख देखकर पर्याय में कुछ नहीं करना है। द्रव्यदृष्टि करने से पर्याय में दर्शन-ज्ञान-चारित्र आ ही जायँगे। कुआँ खोद तो पानी आयगा ही, लेने नहीं जाना पड़ेगा। चैतन्यपाताल फूटने पर शुद्ध पर्याय का प्रवाह अपने-आप ही चलने लगेगा। ३१९.



कहीं रुके बिना 'ज्ञायक हूँ' इस प्रकार बारंबार श्रद्धा और ज्ञान में निर्णय करने का प्रयत्न करना। ज्ञायक का घोटन करते रहना। ३३१.



चेतकर रहना। 'मुझे आता है' ऐसे जानकारी के गर्व के मार्ग पर नहीं जाना। विभाव के मार्ग पर तो अनादि से चल ही रहा है। वहाँ से रोकने के लिये सिर पर गुरु होना चाहिये। एक अपनी लगाम और दूसरी गुरु की लगाम हो तो जीव पीछे मुड़े।

जानकारी के मान से दूर रहना अच्छा है। बाह्य प्रसिद्धि के प्रसंगों से दूर भागने में लाभ है। वे सब प्रसंग निःसार हैं; सारभूत एक आत्मस्वभाव है। ३३३.



आत्मार्थी को श्री गुरु के सान्निध्य में पुरुषार्थ सहज ही होता है। मैं तो सेवक हूँ - यह दृष्टि रहना चाहिये। 'मैं कुछ हूँ' ऐसा भाव हो तो सेवकपना छूट जाता है। सेवक होकर रहने में लाभ है। सेवकपने का भाव गुणसमुद्र आत्मा प्रगटने का निमित्त होता है। ३३४.



यह तो गुत्थी सुलझाना है। चैतन्यडोरे में अनादि की गुत्थी

पड़ी है। सूत की लच्छी में गुत्थी पड़ गई हो उसे धैर्यपूर्वक सुलझाये तो सिरा हाथ में आये और गुत्थी सुलझ जाय, उसी प्रकार चैतन्यडोरे में पड़ी हुई गुत्थी को धीरज से सुलझाये तो गुत्थी दूर हो सकती है। ३३९.



अंतर में तू अपने आत्मा के साथ प्रयोजन रख और बाह्य में देव-शास्त्र-गुरु के साथ; बस, अन्य के साथ तुझे क्या प्रयोजन है ?

जो व्यवहार से साधनरूप कहे जाते हैं, जिनका आलंबन साधक को आये बिना नहीं रहता - ऐसे देव-शास्त्र-गुरु के आलंबनरूप शुभ भाव भी परमार्थ से हेय हैं, तो फिर अन्य पदार्थ या अशुभ भावों की तो बात ही क्या ? उनसे तुझे क्या प्रयोजन है ?

आत्मा की मुख्यतापूर्वक देव-शास्त्र-गुरु का आलंबन साधक को आता है। मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने भी कहा है कि 'हे जिनेन्द्र ! मैं किसी भी स्थान पर हो, (परंतु) पुनः पुनः आपके पादपंकज की भक्ति हो ! - ऐसे भाव साधकदशा में आते हैं, और साथ ही साथ आत्मा की मुख्यता तो सतत बनी ही रहती है। ३४२.



चक्रवर्ती, बलदेव और तीर्थकर जैसे 'यह राज्य, यह वैभव - कुछ नहीं चाहिये इस प्रकार सर्व की उपेक्षा करके एक आत्मा की साधना करने की धुन में अकेले जंगल की ओर चल पड़े ! जिन्हें बाह्य में किसी प्रकार की कमी नहीं थी, जो चाहें वह जिन्हें मिलता था, जन्म से ही, जन्म होनेसे पूर्व भी, इन्द्र जिनकी सेवा में तत्पर रहते थे, लोग जिन्हें भगवान कहकर आदर देते थे - ऐसे उत्कृष्ट पुण्य के धनी सब बाह्य ऋद्धि को छोड़कर, उपसर्ग-परिषहों की परवाह किये बिना, आत्मा का ध्यान करने के

लिये वन में चले गये, तो उन्हें आत्मा सबसे महिमावंत, सबसे विशेष आश्चर्यकारी लगा होगा और बाह्य का सब तुच्छ भासित हुआ होगा तभी तो चले गये होंगे न ? इसलिये, है जीव ! तू ऐसे आश्चर्यकारी आत्मा की महिमा लाकर, अपने स्वयं से उसकी पहिचान करके, उसकी प्राप्ति का पुरुषार्थ कर। तू स्थिरता-अपेक्षा से बाहर का सब न छोड़ सके तो श्रद्धा-अपेक्षा से तो छोड़ ! छोड़ने से तेरा कुछ नहीं जायगा, उलटा परम पदार्थ - आत्मा - प्राप्त होगा।

३४९.



तरने का उपाय बाहरी चमत्कारों में नहीं रहा है। बाह्य चमत्कार साधक का लक्षण भी नहीं हैं। चैतन्यचमत्कारस्वरूप स्वसंवेदन ही साधक का लक्षण है। जो अंतर की गहराई में राग के एक कण को भी लाभरूप मानता है, उसे आत्मा के दर्शन नहीं होते। निस्पृह ऐसा हो जा कि मुझे अपना अस्तित्व ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं चाहिये। एक आत्मा की ही लगन लगे और अंतरमें से उत्थान हो तो परिणति पलटे बिना न रहे। ३५५.



इस संसार में जीव अकेला जन्मता है, अकेला मरता है, अकेला परिभ्रमण करता है, अकेला मुक्त होता है। उसे किसी का साथ नहीं है। मात्र भ्रांति से वह दूसरे की ओट और आश्रय मानता है। इस प्रकार चौदह ब्रह्मांड में अकेले भटकते हुए जीवने इतने मरण किये हैं कि उसके मरण के दुःख में उसकी माता की आँखों से जो आँसू बहे उनसे समुद्र भर जायें। भवपरिवर्तन करते-करते बड़ी मुश्किल से तुझे यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ है, ऐसा उत्तम योग मिला है, उसमें आत्मा का हित कर लेने जैसा है, बिजली

की चमक में मोती पिनो लेने जैसा है। यह मनुष्यभव और उत्तम संयोग बिजली की चमक की भाँति अल्प काल में विलीन हो जायेंगे। इसलिये जैसे तू अकेला ही दुःखी हो रहा है, वैसे अकेला ही सुख के मार्ग पर जा, अकेला ही मुक्ति को प्राप्त कर ले। ३५७.



तू ज्ञायकस्वरूप है। अन्य सब तुझसे अलग पड़ा है, मात्र तूने उसके साथ एकत्वबुद्धि की है।

'शरीर, वाणी आदि मैं नहीं हूँ, विभावभाव मेरा स्वरूप नहीं है, जैसा सिद्धभगवान का स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वरूप है' ऐसी यथार्थ श्रद्धा कर।

शुभ भाव आयेंगे अवश्य। परंतु 'शुभ भाव से क्रमशः मुक्ति होगी, शुभ भाव चले जायेंगे तो सब चला जायगा और मैं शून्य हो जाऊँगा' - ऐसी श्रद्धा छोड़।

तू अगाध अनंत स्वाभाविक शक्तियों से भरा हुआ एक अखण्ड पदार्थ है। उसकी श्रद्धा कर और आगे बढ़। अनंत तीर्थकर आदि इसी मार्ग से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। ३६१.



काल अनादि है, जीव अनादि है, जीवने दो प्राप्त नहीं किये - जिनराजस्वामी और सम्यक्त्व। जिनराजस्वामी मिले परंतु उन्हें पहिचाना नहीं, जिससे मिलना वह न मिलने के बराबर है। अनादि काल से जीव अंतर में जाता नहीं है और नवीनता प्राप्त नहीं करता; एक के एक विषय का - शुभाशुभ भाव का - पिष्टपेषण करता ही रहता है, थकता नहीं है। अशुभमें से शुभ में और फिर शुभमें से अशुभ में जाता है। यदि शुभ भाव से मुक्ति मिलती होती, तब तो कब की मिल गई होती ! अब, यदि पूर्व में अनंत बार किये

हुए शुभ भाव का विश्वास छोड़कर, जीव अपूर्व नवीन भाव करे - जिनवरस्वामी द्वारा उपदिष्ट शुद्ध सम्यक् परिणति करे, तो वह अवश्य शाश्वत सुख को प्राप्त हो। ३६५.



पंचेन्द्रियपना, मनुष्यपना, उत्तम कुल और सत्य धर्म का श्रवण उत्तरोत्तर दुर्लभ है। ऐसे सातिशय ज्ञानधारी गुरुदेव और उनकी पुरुषार्थप्रेरक वाणी के श्रवण का योग अनंत काल में महापुण्योदय से प्राप्त होता है। इसलिये प्रमाद छोड़कर पुरुषार्थ करो। सब सुयोग प्राप्त हो गया है, उसका लाभ ले लो। सावधान होकर शुद्धात्मा को पहिचानकर भवभ्रमण का अंत लाओ। ३६८.



जैसे स्वप्न के लड्डुओं से भूख नहीं मिटती, जैसे मरीचिका के जल से प्यास नहीं बुझती, वैसे ही पर पदार्थों से सुखी नहीं हुआ जाता।

'इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे।

इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे।।'

-यही सुखी होने का उपाय है। विश्वास करो। ३७१.



जिस प्रकार सुवर्ण को जंग नहीं लगती, अग्नि को दीमक नहीं लगती, उसी प्रकार ज्ञायकस्वभाव में आवरण, न्यूनता या अशुद्धि नहीं आती। तू उसे पहिचानकर उसमें लीन हो तो तेरे सर्व गुणरत्नों की चमक प्रगट होगी। ३८०.



आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है; वह नित्य रहकर पलटता है। उसका नित्यस्थायी स्वरूप रीता नहीं, पूर्ण भरा हुआ है। उसमें

अनंत गुणरत्नों के कमरे भरे हैं। उस अद्भुत ऋद्धियुक्त नित्य स्वरूप पर दृष्टि दे तो तुझे संतोष होगा कि 'मैं तो सदा कृतकृत्य हूँ' उसमें स्थिर होने से तू पर्याय में कृतकृत्य हो जायगा। ३८२.



बाह्य क्रियाएँ मार्ग नहीं बतलातीं, ज्ञान मार्ग बतलाता है। मोक्ष के मार्ग का प्रारंभ सच्ची समझ से होता है, क्रिया से नहीं। इसलिये प्रत्यक्ष गुरु का उपदेश और परमागम का प्रयोजनभूत ज्ञान मार्गप्राप्ति के प्रबल निमित्त हैं। चैतन्य का स्पर्श करके निकलती हुई वाणी मुमुक्षु को हृदय में उतर जाती है। आत्मस्पर्शी वाणी आती हो और जीव एकदम रुचिपूर्वक सुने तो सम्यक्त्व के निकट हो जाता है।

३८६.



चेतन का चैतन्यस्वरूप पहिचानकर उसका अनुभव करने पर विभाव का रस टूट जाता है। इसलिये चैतन्यस्वरूप की भूमि पर खड़ा रहकर तू विभाव को तोड़ सकेगा। विभाव को तोड़ने का यही उपाय है। विभाव में खड़े-खड़े विभाव नहीं टूटेगा; मंद होगा, और उससे देवादि की गति मिलेगी, परंतु चार गति का अभाव नहीं होगा। ३९५.



अज्ञानी जीव ऐसे भाव से वैराग्य करता है कि - 'यह सब क्षणिक है, सांसारिक उपाधि दुःखरूप है', परंतु उसे 'मेरा आत्मा ही आनंदस्वरूप है' ऐसे अनुभवपूर्वक सहज वैराग्य नहीं होने के कारण सहज शांति परिणमित नहीं होती। वह घोर तप करता है, परंतु कषाय के साथ एकत्वबुद्धि नहीं टूटी होने से आत्मप्रतपन प्रगट नहीं होता। ४०५.



तू अनादि-अनंत पदार्थ है। ‘जानना’ तेरा स्वभाव है। शरीरादि जड़ पदार्थ कुछ जानते नहीं है। जाननेवाला कभी नहीं - जाननेवाला नहीं होता; नहीं-जाननेवाला कभी जाननेवाला नहीं होता; सदा सर्वदा भिन्न रहते हैं। जड़ के साथ एकत्व मानकर तू दुःखी हो रहा है। वह एकत्व की मान्यता भी तेरे मूल स्वरूप में नहीं है। शुभाशुभ भाव भी तेरा असली स्वरूप नहीं है। यह ज्ञानी अनुभवी पुरुषों का निर्णय है। तू इस निर्णय की दिशा में प्रयत्न कर। मति व्यवस्थित किये बिना चाहे जैसे तर्क ही उठाता रहेगा तो पार नहीं आयगा।

४०६.



अनंत काल से जीव भ्रांति के कारण पर के कार्य करने का मिथ्या श्रम करता है, परंतु परपदार्थ के कार्य वह बिलकुल नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्ररूप से परिणमित होता है। जीव के कर्ता-क्रिया-कर्म जीव में हैं, पुद्गल के पुद्गल में हैं। वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादिरूप से पुद्गल परिणमित होता है, जीव उन्हें नहीं बदल सकता। चेतन के भावरूप से चेतन परिणमित होता है, जड़ पदार्थ उसमें कुछ नहीं कर सकते।

तू ज्ञायकस्वभावी है। पौद्गलिक शरीर-वाणी-मन से तो तू भिन्न ही है, परंतु शुभाशुभ भाव भी तेरा स्वभाव नहीं है। अज्ञान के कारण तूने पर में तथा विभाव में एकत्वबुद्धि की है, वह एकत्वबुद्धि छोड़कर तू ज्ञाता हो जा। शुद्ध आत्मद्रव्य की यथार्थ प्रतीति करके - शुद्ध द्रव्यदृष्टि प्रगट करके, तू ज्ञायकपरिणति प्रगट कर कि जिससे मुक्ति का प्रयाण प्रारंभ होगा। ४११.



मरण तो आना ही है जब सब कुछ छूट जायगा। बाहर की

एक वस्तु छोड़ने में तुझे दुःख होता है, तो बाहर के समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एकसाथ छूटने पर तुझे कितना दुःख होगा ? मरण की वेदना भी कितनी होगी ? 'कोई मुझे बचाओ' ऐसा तेरा हृदय पुकारता होगा। परंतु क्या कोई तुझे बचा सकेगा ? तू भले ही धन के ढेर लगा दे, वैद्य-डॉक्टर भले सर्व प्रयत्न कर छूटें, आसपास खड़े हुए अनेक सगे-संबंधियों की ओर तू भले ही दीनता से टुकुर-टुकुर देखता रहे, तथापि क्या कोई तुझे शरणभूत हो ऐसा है ? यदि तूने शाश्वत स्वयंरक्षित ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा की प्रतीति-अनुभूति करके आत्म-आराधना की होगी, आत्मामें से शांति प्रगट की होगी, तो वह एक ही तुझे शरण देगी। इसलिये अभी से वह प्रयत्न कर। 'सिर पर मौत मंडरा रहा है' ऐसा बारंबार स्मरण में लाकर भी तू पुरुषार्थ चला कि जिससे 'अब हम अमर भये, न मरेंगे' ऐसे भाव में तू समाधिपूर्वक देहत्याग कर सके। जीवन में एक शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। ४९२.



भवभ्रमण चलता रहे ऐसे भाव में यह भव व्यतीत होने देना योग्य नहीं है। भव के अभाव का प्रयत्न करने के लिये यह भव है। भवभ्रमण कितने दुःखों से भरा है उसका गंभीरता से विचार तो कर ! नरक के भयंकर दुःखों से एक क्षण निकलना भी असह्य लगता है वहाँ सागरोपम काल की आयु कैसे कटी होगी ? नरक के दुःख सुने जाएँ ऐसे नहीं हैं। पैर में काँटा लगने जितना दुःख भी तुझसे सहा नहीं जाता, तो फिर जिसके गर्भ में उससे अनंतानंतगुने दुःख पड़े हैं ऐसे मिथ्यात्व को छोड़ने का उद्यम तू क्यों नहीं करता ? गफलत में क्यों रहता है ? ऐसा उत्तम योग पुनः कब मिलेगा ? तू मिथ्यात्व छोड़ने के लिये जी-जानसे प्रयत्न कर, अर्थात्

साता-असाता से भिन्न तथा आकुलतामय शुभाशुभ भावों से भी भिन्न ऐसे निराकुल ज्ञायकस्वभाव को अनुभवने का प्रबल पुरुषार्थ कर। यही इस भव में करने योग्य है। ४१६.



प्रश्न :- मुमुक्षु को शास्त्र का अभ्यास विशेष रखना या चिंतन में विशेष समय लगाना ?

उत्तर :- सामान्य अपेक्षा से तो, शास्त्राभ्यास चिंतन सहित होता है, चिंतन शास्त्राभ्यासपूर्वक होता है। विशेष अपेक्षा से, अपनी परिणति जिसमें टिकती हो और अपने को जिससे विशेष लाभ होता दिखायी दे वह करना चाहिये। यदि शास्त्राभ्यास करने से अपने को निर्णय दृढ़ होता हो, विशेष लाभ होता हो, तो ऐसा प्रयोजनभूत शास्त्राभ्यास विशेष करना चाहिये और यदि चिंतन से निर्णय में दृढ़ता होती हो, विशेष लाभ होता हो, तो ऐसा प्रयोजनभूत चिंतन विशेष करना चाहिये। अपनी परिणति को लाभ हो वह करना चाहिये। अपनी चैतन्यपरिणति आत्मा को पहिचाने यही ध्येय होना चाहिये। उस ध्येय की सिद्धि के हेतु प्रत्येक मुमुक्षु को ऐसा ही करना चाहिये ऐसा नियम नहीं हो सकता। ४२१.



प्रश्न :- विकल्प हमारा पीछा नहीं छोड़ते !

उत्तर :- विकल्प तुझे लगे नहीं हैं, तू विकल्पों को लगा है। तू हट जा न ! विकल्पों में रंचमात्र सुख और शांति नहीं हैं, अंतर में पूर्ण सुख एवं समाधान है।

पहले आत्मस्वरूप की प्रतीति होती है, भेदज्ञान होता है, पश्चात् विकल्प टूटते हैं और निर्विकल्प स्वानुभूति होती है। ४२२.



प्रश्न :- जिज्ञासु जीव तत्त्व को यथार्थ धारण करने पर भी किस प्रकार अटक जाता है ?

उत्तर :- तत्त्व को धारण करने पर भी जगत के किन्हीं पदार्थों में गहरे-गहरे सुख की कल्पना रह जाये अथवा शुभ परिणाम में आश्रयबुद्धि रह जाये - इत्यादि प्रकार से वह जीव अटक जाता है। परंतु जो खास जिज्ञासु - आत्मार्थी हो और जिसे खास प्रकार की पात्रता प्रगट हुई हो वह तो कहीं अटकता ही नहीं, और उस जीव को ज्ञान की कोई भूल रह गई हो तो वह भी स्वभाव की लगन के बल से निकल जाती है; अंतर की खास प्रकार की पात्रतावाला जीव कहीं अटके बिना अपने आत्मा को प्राप्त कर लेता है। ४२५.



['श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथमें से उद्धृत रत्न]

यदि तुझे से अघटित कृत्य हुए हों तो लज्जित होकर मन, वचन और काय के योग से उन्हें न करने की प्रतिज्ञा ले।

(पुष्पमाला : ६, पृष्ठ : ३, १७वें वर्ष से पहले)



यदि तुझे धर्म का अस्तित्व अनुकूल न आता हो तो नीचे के कथन पर विचार कर देख -

- (१) तू जिस स्थिति को भोग रहा है वह किस प्रमाण से ?
- (२) आगामी काल की बात को क्यों नहीं जान सकता ?
- (३) तू जो चाहता है वह क्यों नहीं मिलता ?
- (४) चित्रविचित्रता का प्रयोजन क्या है ?

(पुष्पमाला : ९, १७में वर्ष से पहले)



जिंदगी छोटी है और जंजाल लंबा है; इसलिये जंजाल कम कर, तो सुखरूप से जिंदगी लंबी लगेगी।

(पुष्पमाला : ५१, १७वें वर्ष से पहले)



यदि आहार करना तो पुद्गल के समूह को एकरूप मानकर करन, परंतु लुब्ध नहीं होना।

(बोधवचन : २, १७वें वर्ष से पहले)



आत्मश्लाघा का चिंतन नहीं करना।

(बोधवचन : ३, १७वें वर्ष से पहले)



एक चित्त से आत्मा का ध्यान करें। प्रत्यक्ष अनुभव होगा।

(बोधवचन : ५१, १७वें वर्ष से पहले)



इस लक्ष्मी के समान आत्मा को ठगनेवाला दूसरा कोई नहीं है। (अनित्य अनुप्रेक्षा, १७वें वर्ष से पहले)



सभी महाविकारों में काम विकार अग्रेसर है।

(संसारअनुप्रेक्षा : ४-ब्रह्मचर्य, १७वें वर्ष से पहले)



वचनामृत वीतरागनां, परम शांतरस मूल।

औषध जे भवरोगनां, कायर ने प्रतिकूल॥

(पृष्ठ : ३३, १७वें वर्ष से पहले)



सातावेदनीय है, सत्सुख नहीं है।

(सुखसंबंधी विचार-भाग-४, १७वाँ वर्ष)



गृहस्थ गृहस्थ को विशेष बोध दे सकता है, आचरण से भी असर डाल सकता है। (सुखसंबंधी विचार-भाग-४, १७वाँ वर्ष)



जो केवल लक्ष्मी को उपार्जन करने में कपट, लोभ और माया में उलझे पड़े हैं वे बहुत दुःखी हैं। वे उसका पूरा या अधूरा उपयोग नहीं कर सकते, मात्र उपाधि ही भोगते हैं। वे असंख्यात

पाप करते हैं। उन्हें काल अचानक उठा ले जाता है। अधोगति को पाकर वे जीव अनंत संसार की वृद्धि करते हैं। प्राप्त मनुष्यदेह को वे निर्मूल्य कर डालते हैं, जिससे वे निरंतर दुःखी ही हैं।

(सुखसंबंधी विचार-भाग-६, १७वाँ वर्ष)



बहु पुण्य केरा पुंजथी शुभ देह मानवनो मळ्यो,
तोये अरे ! भवचक्र नो आंटो नहि एके टळ्यो;
सुख प्राप्त करतां सुख टळे छे लेश ए लक्षे लहो,
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो ? ॥१॥

(अमूल्य तत्त्वविचार, १७वाँ वर्ष)



लक्ष्मी अने अधिकार वधतां, शुं वध्युं ते तो कहो ?
शुं कुटुंब के परिवारथी वधवापणुं, ए नय ग्रहो;
वधवापणुं संसारनुं नर देहने हारी जवो,
एनो विचार नहीं अहोहो! एक पळ तमने हवो !!! ॥२॥

(अमूल्य तत्त्वविचार, १७वाँ वर्ष)



प्रिय भव्यो ! जैन जैसा एक भी पूर्ण और पवित्र दर्शन नहीं है; वीतराग जैसा एक भी देव नहीं है; तैरकर अनंत दुःख से पार पाना हो तो इस सर्वज्ञ-दर्शनरूप कल्पवृक्ष का सेवन करो।

(तत्त्वबोध-भाग-१३, १७वाँ वर्ष)



जगत मोहांध है, जहाँ मतभेद है वहाँ अँधेरा है; जहाँ ममत्व या राग है वहाँ सत्यतत्त्व नहीं है यह बात हम किसलिये न विचारें ?

(तत्त्वबोध-भाग-१७, १७वाँ वर्ष)



गच्छों के पड़े हुए मतमतांतर को दूर करने के लिये तथा धर्मविद्या को प्रफुल्लित करने के लिये सदाचारी श्रीमान् और धीमान् दोनों को मिलकर एक महान समाज की स्थापना करने की आवश्यकता है। पवित्र स्याद्वादमत के ढँके हुए तत्त्व को प्रसिद्धि में लाने का जब तक प्रयत्न नहीं होता तब तक शासन की उन्नति भी नहीं होगी। (शिक्षापाठ-९९, १७वाँ वर्ष)



लोकनिंदा से नहीं डरूँ। (महानीति-४४, २०वाँ वर्ष)



मायावी को विद्वान नहीं कहूँ। (महानीति-६९, २०वाँ वर्ष)



आजीविका के लिये धर्म का उपदेश नहीं करूँ।

(महानीति-१३३, २०वाँ वर्ष)



सत्य वस्तु का खंडन नहीं करूँ। (महानीति-१३७, २०वाँ वर्ष)



तत्त्व का आराधन करते हुए लोकनिंदा से नहीं डरूँ।

(महानीति-१३९, २०वाँ वर्ष)



तत्त्व देते हुये माया नहीं करूँ। (महानीति-१४०, २०वाँ वर्ष)



गुरु का गुरु नहीं बनूँ। (महानीति-१६९, २०वाँ वर्ष)



गुणहीन वक्तृत्व का सेवन नहीं करूँ।

(महानीति-१७३, २०वाँ वर्ष)



मिथ्या प्रशंसा नहीं करूँ। (महानीति-२८३, २०वाँ वर्ष)



प्रतिमा की निंदा नहीं करूँ। (महानीति-३६४, २०वाँ वर्ष)



तत्त्व को ही ग्रहण करूँ। (महानीति-४२२, २०वाँ वर्ष)



निःसार अध्ययन नहीं करूँ। (महानीति-४२३, २०वाँ वर्ष)



मानार्थ कृत्य नहीं करूँ। (महानीति-६३४, २०वाँ वर्ष)



कीर्तिके लिये पुण्य नहीं करूँ। (महानीति-६३५, २०वाँ वर्ष)



किसी का भी समागम करना योग्य नहीं है, फिर भी जब तक वैसी दशा न हो तब तक सत्पुरुष का समागम अवश्य करना योग्य है। (वचनामृत-३, २०वाँ वर्ष)



हजारों उपदेश-वचन और कथन सुनने की अपेक्षा उनमें से थोड़े भी वचनों का विचार करना विशेष कल्याणकारी है।

(वचनामृत-१०, २०वाँ वर्ष)



पठन करने की अपेक्षा मनन करने की ओर अधिक ध्यान दीजिये।

(वचनामृत-१४, २०वाँ वर्ष)



महापुरुष के आचरण देखने की अपेक्षा उनका अंतःकरण देखना, यह अधिक परीक्षा है। (वचनामृत-१५, २०वाँ वर्ष)



निर्ग्रथता धारण करने से पहले पूर्ण विचार कीजिये; इसे अपनाकर दोष लगाने की अपेक्षा अल्पारंभी बनें। (वचनामृत-२४, २०वाँ वर्ष)



यथार्थ वचन ग्रहण करने में दंभ न रखियेगा या देनेवाले के उपकार का लोप न कीजियेगा। (वचनामृत-२९, २०वाँ वर्ष)



निर्मल अंतःकरण से आत्मा का विचार करना योग्य है।

(वचनामृत-३२, २०वाँ वर्ष)



एक निष्ठा से ज्ञानी की आज्ञा का आराधन करने से तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। (वचनामृत-७१, २०वाँ वर्ष)



जगत जैसा है वैसा तत्त्वज्ञान की दृष्टि से देखें।

(वचनामृत-७३, २०वाँ वर्ष)



ज्ञानी स्वाद के त्याग को आहार का सच्चा त्याग कहते हैं।

(वचनामृत-९३, २०वाँ वर्ष)



जिसने सारे जगत का शिष्य होनेरूप दृष्टि का वेदन नहीं किया वह सद्गुरु होने योग्य नहीं है। (वचनामृत-९७, २०वाँ वर्ष)



यदि मन शंकाशील हो गया हो तो 'द्रव्यानुयोग' का विचार करना योग्य है; प्रमादी हो गया हो तो 'चरणकरणानुयोग' का विचार करना योग्य है; और कषायी हो गया हो तो 'धर्मकथानुयोग' का विचार करना योग्य है; और जड़ हो गया हो तो 'गणितानुयोग'

का विचार करना योग्य है। (पत्रांक-२५, २०वाँ वर्ष)



जगत को अच्छा दिखाने के लिये अनंत बार प्रयत्न किया; फिर भी उससे अच्छा नहीं हुआ। क्योंकि परिभ्रमण और परिभ्रमण के हेतु अभी प्रत्यक्ष विद्यमान हैं। यदि एक भव आत्मा का भला करने में व्यतीत हो जायेगा, तो अनंत भवों का बदला मिल जायेगा, ऐसा मैं लघुत्वभाव से समझा हूँ। (पत्रांक-३७, २१वाँ वर्ष)



उपयोग को शुद्ध करने के लिये इस जगत के संकल्प-विकल्पों को भूल जाइये। (पत्रांक-३७, २१वाँ वर्ष)



उसको इच्छा मात्र संकल्प-विकल्प से रहित होने की ही है; उसका इस विचित्र जगत से कुछ संबंध या लेना-देना नहीं है। इसलिये उसमें उसके लिये चाहे जो विचार किये जायें या कहे जायें उनकी ओर अब ध्यान देने की इच्छा नहीं है।

(पत्रांक-३७, २१वाँ वर्ष)



“धर्म” यह वस्तु बहुत गुप्त रही है। यह बाह्य शोधन से मिलनेवाली नहीं है। अपूर्व अंतःशोधन से यह प्राप्त होती है। यह अंतःशोधन किसी महाभाग्य जीव को सद्गुरु के अनुग्रह से प्राप्त होता।

(पत्रांक-४७, २२वाँ वर्ष)



एक भव के थोड़े सुख के लिये अनंत भव के अनंत दुःख को नहीं बढ़ाने का प्रयत्न सत्पुरुष करते हैं।

(पत्रांक-४७, २२वाँ वर्ष)



स्याद्वाद शैली से यह बात भी मान्य है कि जो होनेवाला है वह बदलनेवाला नहीं है और जो बदलनेवाला है वह होनेवाला नहीं है। तो फिर धर्म प्रयत्न में, आत्महित में अन्य उपाधि के अधीन होकर प्रमाद क्यों करना ? ऐसा है फिर भी देश, काल, पात्र और भाव देखने चाहिये। (पत्रांक-४७, २२वाँ वर्ष)



काया से विकारचेष्टा का अनुभव करते हुए भी उपयोग लक्ष्य पर ही रखना। (पत्रांक-७८, २२वाँ वर्ष)



देह की जितनी चिंता रखता है उतनी नहीं परंतु उससे अनंतगुनी चिंता आत्मा की रख, क्योंकि अनंत भवों को एक भव में दूर करना है। (पत्रांक-८४, २३वाँ वर्ष)



आत्मा को पहचानना हो तो आत्मा का परिचयी होना और परवस्तु का त्यागी होना। (पत्रांक-८५, २३वाँ वर्ष)



हे आत्मन् ! तूने यदि यह मनुष्यजन्म काकतालीय न्याय से प्राप्त किया है, तो तुझे अपने में अपना निश्चय करके अपना कर्तव्य सफल करना चाहिये। इस मनुष्य जन्म के सिवाय अन्य किसी भी जन्म में अपने स्वरूप का निश्चय नहीं होता। इसीलिये यह उपदेश है। (पत्रांक-१०२, २३वाँ वर्ष)



हे जीव ! तू भ्रम में मत पड़, तुझे हित की बात कहता हूँ। अंतर में सुख है, बाहर खोजने से नहीं मिलेगा। अंतर का सुख अंतर की समश्रेणी में है, उसमें स्थिति होने -

के लिये बाह्य पदार्थों का विस्मरण कर, आश्चर्य भूल।

(पत्रांक-१०८, २३वाँ वर्ष)



तेरे दोष से तुझे बंधन है यह संत की पहली शिक्षा है। तेरा दोष इतना ही कि अन्य को अपना मानना, और अपने आपको भूल जाना। (पत्रांक-१०८, २३वाँ वर्ष)



एक जन्म और वह भी थोड़े ही काल का, प्रारब्धानुसार बिता लेना, उसमें दीनता उचित नहीं है। (पत्रांक-१२०, २३वाँ वर्ष)



लोकसंज्ञा से लोकाग्र में नहीं पहुँचा जाता। लोकत्याग के बिना वैराग्य यथायोग्य पाना दुर्लभ है। (पत्रांक-१२८, २३वाँ वर्ष)



किसी एक सत्पुरुष को खोजे, और उसके चाहे जैसे वचनों में भी श्रद्धा रखे। (पत्रांक-१४३, २३वाँ वर्ष)



दृष्टि ऐसी स्वच्छ करें कि जिससे सूक्ष्म से सूक्ष्म दोष भी दिखायी दे सकें; और दिखायी देने से उनका क्षय हो सके।

(पत्रांक-१५७ रोजनीशी-१६, २३वाँ वर्ष)



मायिक सुख की सर्व प्रकार की वांछा चाहे जब भी छोड़े बिना छुटकारा होनेवाला नहीं है, तो जब से इस वाक्य का श्रवण किया, तभी से उस क्रम का अभ्यास करना योग्य ही है, ऐसा समझें।

(पत्रांक-१६६, २३वाँ वर्ष)



जीव के संसार परिभ्रमण के जो जो कारण हैं, उनमें मुख्य स्वयं जिस ज्ञान के लिये शंकित है, उस ज्ञान का उपदेश करना, प्रगट में उस मार्ग की रक्षा करना, हृदय में उसके लिये चलविचलता होते हुए भी अपने श्रद्धालुओं को उसी मार्ग के यथायोग्य होनेका ही उपदेश देना, यह सबसे बड़ा कारण है।

(पत्रांक-१७६, २३वाँ वर्ष)



स्वयं शंका में गोते खाता हो, ऐसा जीव निःशंक मार्ग का उपदेश देने का दंभ रखकर सारा जीवन बिता दे यह उसके लिये परम शोचनीय है।

इसी प्रकार दूसरे अनंत जीव पूर्वकाल में भटके हैं, वर्तमानकाल में भटक रहे हैं और भविष्य काल में भटकेंगे।

(पत्रांक-१७६, २३वाँ वर्ष)



जिसके पास से धर्म प्राप्त करना हो उस पुरुष के धर्मप्राप्त होनेकी पूर्ण परीक्षा करनी चाहिये, यह संत की समझने जैसी बात है। (पत्रांक-१७८, २३वाँ वर्ष)



जो निरंतर भाव-अप्रतिबद्धता से विचरते हैं ऐसे ज्ञानीपुरुष के चरणारविंद के प्रति अचल प्रेम हुए बिना और सम्यक्प्रतीति आये बिना, सत्स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती, और आने पर अवश्य वह मुमुक्षु, जिसके चरणारविंद की उसने सेवा की है, उसकी दशा को पाता है। सर्व ज्ञानियों ने इस मार्ग का सेवन किया है, सेवन करते हैं और सेवन करेंगे। ज्ञानप्राप्ति इससे हमें हुई थी, वर्तमान में इसी मार्ग से होती है और अनागतकाल में भी ज्ञानप्राप्ति का

यही मार्ग है। सर्व शास्त्रों का बोध-लक्ष्य देखा जाये तो यही है। और जो कोई भी प्राणी छूटना चाहता है उसे अखंड वृत्ति से इसी मार्ग का आराधन करना चाहिये। इस मार्ग का आराधन किये बिना जीवने अनादि काल से परिभ्रमण किया है। जब तक जीव को स्वच्छंदरूपी अंधत्व है, तब तक इस मार्ग का दर्शन नहीं होता। (अंधत्व दूर होनेके लिये) जीव को इस मार्ग का विचार करना चाहिये, दृढ़ मोक्षेच्छा करना चाहिये; इस विचार में अप्रमत्त रहना चाहिये, तो मार्ग की प्राप्ति होकर अंधत्व दूर होता है, यह निःशंक मानें। अनादिकाल से जीव उलटे मार्ग पर चला है। यद्यपि उसने जप, तप, शास्त्राध्ययन इत्यादि अनंत बार किया है; तथापि जो कुछ भी अवश्य करने योग्य था, वह उसने किया नहीं है; जो हमने पहले ही बताया है। (पत्रांक-१९४, २४वाँ वर्ष)



जीव के लिये दो बड़े बंधन हैं, एक स्वच्छंद और दूसरा प्रतिबंध। जिसकी इच्छा स्वच्छंद दूर करने की है, उसे ज्ञानी की आज्ञा का आराधन करना चाहिये, और जिसकी इच्छा प्रतिबंध दूर करने की है, उसे सर्वसंग का त्यागी होना चाहिये। ऐसा न हो तो बंधन का नाश नहीं होता। जिसका स्वच्छंद नष्ट हुआ है, उसको जो प्रतिबंध है, वह अवसर प्राप्त होनेपर नष्ट होता है।

(पत्रांक-१९६, २४वाँ वर्ष)



आयु का जितना समय है उतना ही समय यदि जीव उपाधि का रखे तो मनुष्यत्व का सफल होना कब संभव है ? मनुष्यता की सफलता के लिये जीना ही कल्याकारक है; ऐसा निश्चय करना चाहिये। और सफलता के लिये जिन जिन साधनों की प्राप्ति करना

योग्य है उन्हें प्राप्त करने के लिये नित्य प्रति निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिये। निवृत्ति के अभ्यास के बिना जीव की प्रवृत्ति दूर नहीं होती यह प्रत्यक्ष समझ में आने जैसी बात है। (पत्रांक-१९९, २४वाँ वर्ष)

धर्म के रूप में मिथ्या वासनाओं से जीवको बंधन हुआ है, यह महान लक्ष रखकर वैसी मिथ्या वासनायें कैसे दूर हों इसके लिये विचार करने का अभ्यास रखियेगा। (पत्रांक-१९९, २४वाँ वर्ष)



जीव स्वयं को भूल गया है, और इसलिये उसे सत्सुख का वियोग है, ऐसा सर्व धर्म संमत कथन है। (पत्रांक-२००, २४वाँ वर्ष)



स्वयं को भूल जानेरूप अज्ञान का नाश ज्ञान मिलने से होता है, ऐसा निःशंक मानना। (पत्रांक-२००, २४वाँ वर्ष)



ज्ञान की प्राप्ति ज्ञानी के पास से होनी चाहिये। यह स्वाभाविकरूप से समझ में आता है, फिर भी जीव लोकलज्जा आदि कारणों से अज्ञानी का आश्रय नहीं छोड़ता, यही अनंतानुबंधी कषाय का मूल है। (पत्रांक-२००, २४वाँ वर्ष)



जो ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा करता है, उसे ज्ञानी की इच्छानुसार चलना चाहिये, ऐसा जिनागम आदि सभी शास्त्र कहते हैं। अपनी इच्छानुसार चलता हुआ जीव अनादिकाल से भटक रहा है।

(पत्रांक-२००, २४वाँ वर्ष)



परमार्थ प्रीति होनेमें सत्संग सर्वोत्कृष्ट और अनुपम साधन है; परंतु इस काल में वैसा योग होना बहुत विकट है; इसलिये जीव

को इस विकटता में रहकर सफलतापूर्वक पूरा करने के लिये विकट पुरुषार्थ करना योग्य है, और वह यह कि "अनादि काल से जितना जाना है उतना सभी अज्ञान ही है, उसका विस्मरण करना।"

(पत्रांक-२०७, २४वाँ वर्ष)



'सत्' जो कुछ है, वह 'सत्' ही है; सरल है, सुगम है, और सर्वत्र उसकी प्राप्ति होती है; परंतु जिसपर भ्रांतिरूप आवरणतम छाया रहता है उस प्राणी को उसकी प्राप्ति कैसे हो ? अंधकार के चाहे जितने प्रकार करें, परंतु उनमें कोई ऐसा प्रकार नहीं निकलेगा कि जो प्रकाशरूप हो; इसी प्रकार जिसपर आवरणतिमिर छाया हुआ है उस प्राणी की कल्पनाओंमें से कोई भी कल्पना 'सत्' मालूम नहीं होती और 'सत्' के निकट होना भी संभव नहीं है। 'सत्' है, वह भ्रांति नहीं है, वह भ्रांति से सर्वथा व्यतिरिक्त (भिन्न) है; कल्पना से पर (दूर) है; इसलिये जिसकी उसे प्राप्त करने की दृढ़ मति हुई है वह पहले ऐसा दृढ़ निश्चयात्मक विचार करे कि स्वयं कुछ भी नहीं जानता; और फिर 'सत्' की प्राप्ति के लिये ज्ञानी की शरण में जाये तो अवश्य मार्ग की प्राप्ति होगी।

ये जो वचन लिखे हैं वे सभी मुमुक्षुओं के लिये परम बांधवरूप हैं, परम रक्षकरूप हैं, और इनका सम्यक् प्रकार से विचार करने पर ये परमपद को देनेवाले हैं। इनमें निर्ग्रथ-प्रवचन की समस्त द्वादशांगी, षड्दर्शन का सर्वोत्तम तत्त्वर और ज्ञानी के बोध का बीज संक्षेप में कहा है; इसलिये वारंवार इनका स्मरण कीजिये, विचार कीजिये, समझिये, समझने का प्रयत्न कीजिये, इनके बाधक अन्य प्रकारों में उदासीन रहिये, इन्हीं में वृत्ति का लय कीजिये। यह आपको और किसी भी मुमुक्षु को गुप्त रीत से कहने का हमारा

मंत्र है; इनमें 'सत्' ही कहा है, यह समझने के लिये अत्यधिक समय लगाइये। (पत्रांक-२११, २४वाँ वर्ष)



जिसके वचनबल से जीव निर्वाणमार्ग को पाता है, ऐसी सजीवनमूर्ति का योग पूर्वकाल में जीव को बहुत बार हो गया है; परंतु उसकी पहचान नहीं हुई है। जीवने पहचान करने का प्रयत्न क्वचित् किया भी होगा, तथापि जीव में जड़ जमाई हुई सिद्धियोगादि, ऋद्धियोगादि और दूसरी वैसी कामनाओं से जीव की अपनी दृष्टि मलिन थी। यदि दृष्टि मलिन हो तो वैसी सत्मूर्ति के प्रति भी बाह्य लक्ष्य रहता है, जिससे पहचान नहीं हो पाती; और जब पहचान होती है, तब जीव को कोई ऐसा अपूर्व स्नेह आता है।

(पत्रांक-२१२, २४वाँ वर्ष)



अभेददशा आये बिना जो प्रणी इस जगत की रचना देखना चाहते हैं वे बंधे जाते हैं। (पत्रांक-२१४, २४वाँ वर्ष)



स्वच्छंद जहाँ प्रायः दब गया है, वहाँ फिर 'मार्गप्राप्ति' को रोकनेवाले मुख्यतः तीन कारण होते हैं, ऐसा हम जानते हैं।

इस लोक की अल्प भी सुखेच्छा, (पाठांतर : परम विनय की न्यूनता।) परम दीनता की न्यूनता और पदार्थ का अनिर्णय।

'इस लोक की अल्प भी सुखेच्छा' यह प्रायः तीव्र मुमुक्षुता की उत्पत्ति होनेसे पहले होती है। उसके होनेके कारण ये हैं - निःशंकता से यह 'सत्' है ऐसा दृढ़ नहीं हुआ है, अथवा यह 'परमानंदरूप' ही है ऐसा भी निश्चय नहीं है; अथवा तो मुमुक्षुता में भी कितने ही आनंद का अनुभव होता है, इससे बाह्यसाता के कारण भी कितनी

ही बार प्रिय लगते हैं (!) और इससे इस लोक की अल्प भी सुखेच्छा रहा करती है, जिससे जीव की योग्यता रुक जाती है।

वास्तविक तत्त्व पाने की कुछ योग्यता की न्यूनता के कारण पदार्थ-निर्णय न हुआ हो तो चित्त व्याकुल रहता है, और मिथ्या समता आती है; कल्पित पदार्थ में 'सत्' की मान्यता होती है; जिससे कालक्रम से अपूर्व पदार्थ में परम प्रेम नहीं आता, और यही परम योग्यता की हानि है।

कलियुग है, इसलिये क्षण भर भी वस्तु विचार के बिना नहीं रहना यह महात्माओं की शिक्षा है। (पत्रांक-२५४, २४वाँ वर्ष)



तृषातुर को पिलाने की मेहनत कीजिये।

अतृषातुर में तृषातुर होने की अभिलाषा उत्पन्न कीजिये। जिसमें वह उत्पन्न न हो सके उसके लिये उदासीन रहिये।

(पत्रांक-२५८, २४वाँ वर्ष)



ज्ञानी से ज्ञान की इच्छा रखने की अपेक्षा बोधस्वरूप समझकर भक्ति चाहना परम फल है। (पत्रांक-२६३, २४वाँ वर्ष)



सहु साधन बंधन थयां, रह्यो न कोई उपाय।

सत् साधन समज्यो नहीं, त्यां बंधन शुं जाय ? ॥१७॥

(पत्रांक-२६४, २४वाँ वर्ष)



नहि ग्रंथमांही ज्ञान भाख्युं, ज्ञान नहि कविचातुरी,
नहि मंत्र तंत्रो ज्ञान दाख्यां, ज्ञान नहि भाषा ठरी।
नहि अन्य स्थाने ज्ञान भाख्युं ज्ञान ज्ञानीमां कळो,

जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो।

(पत्रांक-२६७, २४वाँ वर्ष)



जिस महापुरुष का चाहे जैसा आचरण भी वंदनीय ही है; ऐसे महात्मा के प्राप्त होनेपर यदि उसकी प्रवृत्ति ऐसी प्रतीत होती हो कि जो निःसंदेहरूप से की ही नहीं जा सकती, तो मुमुक्षु कैसी दृष्टि रखे, यह बात समझने योग्य है।

(पत्रांक-२७२, २४वाँ वर्ष)



जगत में अच्छा दिखाने के लिये मुमुक्षु कोई आचरण न करे, परंतु जो अच्छा हो उसीका आचरण करे।

(पत्रांक-२७४, २४वाँ वर्ष)



चाहे जिस क्रिया, जप, तप अथवा शास्त्राध्ययन करके भी एक ही कार्य सिद्ध करना है, वह यह कि जगत की विस्मृति करना और सत् के चरण में रहना। (पत्रांक-२९९, २५वाँ वर्ष)



जीवन अल्प है और जंजाल अनंत है; धन सीमित है, और तृष्णा अनंत है; इस स्थिति में स्वरूप-स्मृति का संभव नहीं है। परंतु जहाँ जंजाल अल्प है, और जीवन अप्रमत्त है, तथा तृष्णा अल्प है अथवा नहीं है, और सर्व सिद्धि है, वहाँ पूर्ण स्वरूपस्मृति होना संभव है। (पत्रांक-३१९, २५वाँ वर्ष)



किसी भी काम के प्रसंग में अधिक शोक में पड़ने का अभ्यास कम कीजिये; ऐसा करना या होना यह ज्ञानी की अवस्था में प्रवेश

करने का द्वार है। (पत्रांक-३२९, २५वाँ वर्ष)



भ्रांतिवश सुखस्वरूप भासमान होते हैं ऐसे इन संसारी प्रसंगों एवं प्रकारों में जब तक जीव को प्रीति रहती है, तब तक जीव को अपने स्वरूप का भास होना असंभव है, और सत्संग का माहात्म्य भी तथारूपता से भासमान होना असंभव है। जब तक यह संसारगत प्रीति असंसारगत प्रीति को प्राप्त न हो तब तक अवश्य ही अप्रमत्तभाव से वारंवार पुरुषार्थ को स्वीकार करना योग्य है।

(पत्रांक-३३१, २५वाँ वर्ष)



जो जो प्राणी देह धारण करते हैं वे वे प्राणी उस देह का त्याग करते हैं, ऐसा हमें प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध दिखायी देता है; फिर भी अपना चित्त उस देह की अनित्यता का विचार करके नित्य पदार्थ के मार्ग में नहीं जाता, इस शोचनीय बात का वारंवार विचार करना योग्य है। (पत्रांक-३३७, २५वाँ वर्ष)



जगत के अभिप्राय की ओर देखकर जीव ने पदार्थ का बोध पाया है। ज्ञानी के अभिप्राय की ओर देखकर पाया नहीं है। जिस जीवने ज्ञानी के अभिप्राय से बोध पाया है उस जीव को सम्यग्दर्शन होता है। (पत्रांक-३५८, २५वाँ वर्ष)



यदि जीव को परितृप्तता न रहा करती हो तो उसे अखण्ड आत्मबोध नहीं है ऐसा समझें। (पत्रांक-३६०, २५वाँ वर्ष)



ज्ञानी से यदि किसी भी प्रकार से धन आदि की इच्छा रखी

जाती है, तो जीव को दर्शनावरणीय कर्म का प्रतिबंध विशेष उत्पन्न होता है। प्रायः ज्ञानी, किसीको अपने से वैसा प्रतिबंध न हो, इस तरह प्रवृत्ति करते हैं। (पत्रांक-३६८, २५वाँ वर्ष)

अनंतकाल में जो प्राप्त नहीं हुआ है, उसकी प्राप्ति में अमुक काल व्यतीत हो तो हानि नहीं है। मात्र अनंतकाल में जो प्राप्त नहीं हुआ है उसके विषय में भ्रांति हो जाये, भूल हो जाये वह हानि है। यदि ज्ञानी का परम स्वरूप भासमान हुआ है, तो फिर उसके मार्ग में अनुक्रम से जीव का प्रवेश होता है; यह सरलता से समझ में आने जैसी बात है। (पत्रांक-३७१, २५वाँ वर्ष)



चाहे जिस प्रकार से भी इस लोकलज्जारूप भय के स्थानभूत भविष्य का विस्मरण करना योग्य है। उसकी 'चिंता से' परमार्थ का विस्मरण होता है। (पत्रांक-३७४, २५वाँ वर्ष)



जिनागम उपशमस्वरूप है। उपशमस्वरूप पुरुषों ने उपशम के लिये उसका प्ररूपण किया है, उपदेश किया है। यह उपशम आत्मा के लिये है, अन्य किसी प्रयोजन के लिये नहीं है। आत्मार्थ में यदि उसका आराधन नहीं किया गया, तो उस जिनागम का श्रवण एवं अध्ययन निष्फलरूप है; यह बात हमें तो निःसंदेह यथार्थ लगती है। (पत्रांक-३७५, २५वाँ वर्ष)



दुःख की निवृत्ति को सभी जीव चाहते हैं, और दुःख की निवृत्ति, जिनसे दुःख उत्पन्न होता है ऐसे राग, द्वेष और अज्ञान आदि दोषों की निवृत्ति हुए बिना, होना संभव नहीं है। इन राग आदि की निवृत्ति एक आत्मज्ञान के सिवाय दूसरे किसी प्रकार से भूतकाल

में हुई नहीं है, वर्तमानकाल में होती नहीं है, भविष्यकाल में हो नहीं सकती। ऐसा सर्व ज्ञानी पुरुषों को भासित हुआ है। इसलिये वह आत्मज्ञान जीव के लिये प्रयोजनरूप है। उसका सर्वश्रेष्ठ उपाय सदगुरुवचन का श्रवण करना या सत्शास्त्र का विचार करना है। जो कोई जीव दुःख की निवृत्ति चाहता हो, जिसे दुःख से सर्वथा मुक्ति पानी हो उसे इसी एक मार्ग की आराधना किये बिना अन्य दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिये जीव को सर्व प्रकार के मतमतांतर से, कुलधर्म से, लोकसंज्ञारूप धर्म से और ओघसंज्ञारूप धर्म से उदासीन होकर एक आत्मविचार कर्तव्यरूप धर्म की उपासना करना योग्य है। (पत्रांक-३७५, २५वाँ वर्ष)



जगत और मोक्ष का मार्ग ये दोनों एक नहीं है। जिसे जगत की इच्छा, रुचि, भावना है उसे मोक्ष में अनिच्छा, अरुचि अभावना होती है, ऐसा मालूम होता है। (पत्रांक-३८९, २५वाँ वर्ष)



अल्प ज्ञान अथवा ज्ञानप्रधानदशा असुगम मार्ग के प्रति, स्वच्छंदादि दोष के प्रति, अथवा पदार्थसंबंधी भ्रांति के प्रति जीव को ले जाता है, प्रायः ऐसा होता है; उसमें भी इस काल में तो बहुत काल तक जीवनपर्यंत भी जीव को भक्तिप्रधानदशा की आराधना करना योग्य है; ऐसा निश्चय ज्ञानियों ने किया प्रतीत होता है।

(पत्रांक-३९४, २५वाँ वर्ष)



जीव को धर्म अपनी कल्पना से अथवा कल्पनाप्राप्त अन्य पुरुष से श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य या आराधने योग्य नहीं है। मात्र आत्मस्थिति है जिनकी ऐसे सत्पुरुष से ही आत्मा अथवा

आत्मधर्म श्रवण करने योग्य है, यावत् आराधने योग्य है।

(पत्रांक-४०३, २५वाँ वर्ष)



ज्ञानीपुरुष का योग होनेके बाद जो आत्मभाव से, स्वच्छंदता से, कामना से, रस से, ज्ञानी के वचनों की उपेक्षा कर के, 'अनुपयोगपरिणामी' होकर संसार का सेवन करता है, वह पुरुष तीर्थकर के मार्ग से बाहर है। (पत्रांक-४१४, २५वाँ वर्ष)



शम, संवेगादि गुण उत्पन्न होनेपर अथवा वैराग्यविशेष एवं निष्पक्षता होनेपर, कषायादि क्षीण होनेपर, अथवा कुछ भी प्रज्ञाविशेष से समझने की योग्यता होनेपर, जो सद्गुरुगम से समझने योग्य अध्यात्म ग्रंथ, तब तक प्रायः शस्त्र जैसे हैं, उन्हें अपनी कल्पना से जैसे-तैसे पढ़कर, निश्चय करके, वैसा अंतर्भेद हुए बिना अथवा दशा बदले बिना, विभाव दूर हुए बिना अपने में ज्ञान की कल्पना करता है; और क्रिया तथा शुद्ध व्यवहाररहित होकर प्रवृत्ति करता है, ऐसा तीसरा प्रकार शुष्कअध्यात्मी का है। जगह जग जीव को ऐसा योग मिलता रहता है, अथवा तो ज्ञानरहित गुरु या परिग्रहादि के इच्छुक गुरु, मात्र अपने मानपूजादि की कामना से फिरनेवाले जीवों को अनेक प्रकार से उलटे रास्तेपर चढ़ा देते हैं, और प्रायः क्वचित् ही ऐसा नहीं होता। जिससे ऐसा मालूम होता है कि काल की दुःषमता है।

वर्तमानकाल दुःषम कहा है, फिर भी इसमें अनंत भव को छेदकर मात्र एक भव बाकी रखे, ऐसी एकावतारिता भी प्राप्त हो सकती है। इसलिये विचारवान जीव यह लक्ष रखकर, उपर्युक्त प्रवाहों में न बहते हुए यथाशक्ति वैराग्यादि की आराधना अवश्य करके, सद्गुरु

का योग प्राप्त करके, कषायादि दोष का छेदक और अज्ञान से रहित होनेका सत्यमार्ग प्राप्त करना चाहिये।

(पत्रांक-४२२, २६वाँ वर्ष)



ज्ञानी के मार्ग का विचार करते हुए ज्ञात होता है कि किसी भी प्रकार से यह देह मूर्च्छापात्र नहीं है, उसके दुःख से इस आत्मा को शोक करना योग्य नहीं है। आत्मा को आत्म-अज्ञान से शोक करने के सिवाय दूसरा शोक करना उचित नहीं है। प्रगट यम को समीप देखते हुए भी जिसे देह में मूर्च्छा नहीं रहती, उस पुरुष को नमस्कार है। इसी बात का चिंतन करते रहना हमें, आपको, प्रत्येक को योग्य है। (पत्रांक-४२५, २६वाँ वर्ष)



जीव यदि अज्ञानपरिणामी हो तो जैसे उस अज्ञान का नियमितरूप से आराधन करने से कल्याण नहीं है वैसे यह मोहरूप मार्ग अथवा यह लोकसंबंधी जो मार्ग है वह मात्र संसार है; उसे फिर चाहे जिस आकार में रखें तो भी संसार है। उस संसारपरिणाम से रहित करने के लिए असंसारगत वाणी का अस्वच्छंदपरिणाम से जब आधार प्राप्त होता है, तब उस संसार का आकार निराकारता को प्राप्त होता जाता है। (पत्रांक-४३०, २६वाँ वर्ष)



यह क्षेत्र अपना है, और उस क्षेत्र की रक्षा के लिये वहाँ चातुर्मास करने के लिये जो विचार किया जाता है, वह क्षेत्रप्रतिबंध है। तीर्थकरदेव तो ऐसा कहते हैं कि द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से - इन चारों प्रतिबंध से यदि आत्मार्थ होता हो अथवा निर्ग्रथ हुआ जाता हो तो वह तीर्थकरदेव के मार्ग में नहीं हैं, परंतु संसार

के मार्ग में है। (पत्रांक-४३०, २६वाँ वर्ष)



यह भ्रांति जिस कारण से होती है, उस कारण के मुख्य दो प्रकार प्रतीत होते हैं - एक पारमार्थिक और दूसरा व्यावहारिक; और उन दोनों प्रकारों का जो एकत्र अभिप्राय है वह यह है कि इस जीव में सच्ची मुमुक्षुता नहीं आयी; इस जीव में एक भी सत्य अक्षर का परिणमन नहीं हुआ; सत्पुरुष के दर्शन में जीव को रुचि नहीं हुई; उस उस प्रकार के योग में समर्थ अंतराय से जीव को वह प्रतिबंध होता रहा है; और उसका सब से बड़ा कारण असत्संग की वासना से उत्पन्न हुई स्वेच्छाचारिता और असत्दर्शन में सत्दर्शनरूप भ्रांति है। (पत्रांक-४३७, २६वाँ वर्ष)



मुमुक्षीजीव को उन-उन प्रसंगों को सुखदायक मानना योग्य है कि जिन प्रसंगों के कारण आत्मसाधन सूझता है।

(पत्रांक-४४७, २६वाँ वर्ष)



कल्याणमें प्रतिबंधरूप जो-जो कारण हैं, उनका जीवको वारंवार विचार करना योग्य है; उन-उन कारणोंका वारंवार विचार करके दूर करना योग्य है; और इस मार्गका अनुसरण किये बिना कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती। मल, विक्षेप और अज्ञान ये जीवके अनादि के तीन दोष हैं। ज्ञानीपुरुषोंके वचनोंकी प्राप्ति होनेपर, उनका यथायोग्य विचार होनेसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। उस अज्ञानकी संतति बलवान होनेसे उसका रोध होनेके लिये और ज्ञानीपुरुषोंके वचनोंका यथायोग्य विचार होनेके लिये मल और विक्षेपको दूर करना योग्य है। सरलता, क्षमा, अपने दोष देखना, अल्पारंभ, अल्पपरिग्रह इत्यादि मल मिटनेके

साधन हैं। ज्ञानीपुरुषकी अत्यंत भक्ति विक्षेप मिटनेका साधन है।

(पत्रांक-४४९, २६वाँ वर्ष)



आत्माको भिन्न-भिन्न प्रकारकी कल्पनासे विचार करनेमें लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा और असत्संग ये कारण हैं; जिन कारणोंमें उदासीन हुए बिना, निःसत्त्व ऐसी लोकसंबंधी जपतपादि क्रियामें साक्षात् मोक्ष नहीं है, परंपरा मोक्ष नहीं है, ऐसा माने बिना, निःसत्त्व असत्शास्त्र और असद्गुरु, जो आत्मस्वरूपके आवरणके मुख्य कारण हैं, उन्हें साक्षात् आत्मघाती जाने बिना जीवको जीवके स्वरूपका निश्चय होना बहुत दुष्कर है, अत्यंत दुष्कर है। ज्ञानीपुरुषके प्रगट आत्मस्वरूपको कहनेवाले वचन भी उन कारणोंके कारण जीवको स्वरूपका विचार करनेके लिये बलवान नहीं होते। (पत्रांक-४४९, २६वाँ वर्ष)



अब ऐसा निश्चय करना योग्य है कि जिसे आत्मस्वरूप प्राप्त है, प्रगट है, उस पुरुष के बिना अन्य कोई उस आत्मस्वरूपको यथार्थ कहनेके योग्य नहीं है; और उस पुरुषसे आत्मा जाने बिना अन्य कोई कल्याणका उपाय नहीं है। उस पुरुषसे आत्मा जाने बिना, आत्मा जाना है, ऐसी कल्पनाका मुमुक्षु जीवको सर्वथा त्याग करना योग्य है। उस आत्मारूप पुरुषके सत्संगकी निरंतर कामना रखकर उदासीनतासे लोकधर्मसंबंधी और कर्मसंबंधी परिणामसे छूटा जा सके इस प्रकारसे व्यवहार करना। जिस व्यवहारके करनेमें जीवको अपनी महत्तादिकी इच्छा हो वह व्यवहार करना यथायोग्य नहीं है। (पत्रांक-४४९, २६वाँ वर्ष)



शारीरिक वेदना को देह का धर्म मानकर और बाँधे हुए कर्मों

का फल जानकर सम्यक् प्रकार से सहन करना योग्य है। बहुत बार शारीरिक वेदना विशेष बलवती होती है, उस समय उत्तम जीवों को भी उपर्युक्त सम्यक्प्रकार से स्थिर रहना कठिन होता है; तथापि हृदय में वारंवार उस बात का विचार करते हुए और आत्मा को नित्य, अछेद्य, अभेद्य, जरा, मरणादि धर्म से रहित भाते हुए, विचार करते हुए, कितने ही प्रकार से उस सम्यक्प्रकार का निश्चय आता है। महान पुरुषों द्वारा सहन किये हुए उपसर्ग तथा परिषह के प्रसंगों की जीव में स्मृति करके, उसमें उनके रहे हुए अखंड निश्चय को वारंवार हृदय में स्थिर करने योग्य जानने से जीव को वह सम्यक्परिणाम फलीभूत होता है, और वेदना, वेदना के क्षयकाल में निवृत्त होनेपर, फिर वह वेदना किसी कर्म का कारण नहीं होती। व्याधिरहित शरीर हो, उस समय में यदि जीवने उससे अपनी भिन्नता जाकर, उसका अनित्यादि स्वरूप जानकर, उसके प्रति मोह, ममत्वादि का त्याग किया हो, तो यह महान श्रेय है; तथापि ऐसा न हुआ हो तो किसी भी व्याधि के उत्पन्न होनेपर, वैसी भावना करते हुए जीव को प्रायः निश्चल कर्मबंधन नहीं होता; और महाव्याधि के उत्पत्तिकाल में तो जीव देह के ममत्व का जरूर त्याग करके ज्ञानीपुरुष के मार्ग की विचारणा के अनुसार आचरण करे, यह सम्यक् उपाय है। यद्यपि देह का वैसा ममत्व त्याग करना अथवा कम करना, यह महादुष्कर बात है, तथापि जिसका वैसा करने का निश्चय है, वह कभी-न-कभी फलीभूत होता है।

(पत्रांक-४६०, २६वाँ वर्ष)



जब तक जीव को देहादि से आत्मकल्याण का साधन करना रहा है, तब तक उन देह में अपारिणामिक ममता का सेवन करना

योग्य है; अर्थात् यदि इस देह का कोई उपचार करना पड़े तो वह उपचार देह के ममतार्थ करने की इच्छा से नहीं, परंतु उस देह से ज्ञानीपुरुष के मार्ग का आराधन हो सकता है, ऐसे किसी प्रकार से उसमें रहे हुए लाभ के लिये, और वैसी ही बुद्धि से उस देह की व्याधि से उपचार में प्रवृत्ति करने में बाधा नहीं है। जो कुछ वह ममता है वह अपारिणामिक ममता है, इसलिये परिणाम में समता-स्वरूप है; परंतु उस देह के प्रियतार्थ, सांसारिक साधनों में प्रधान भोग का यह हेतु है, उसका त्याग करना पड़ता है, ऐसे आर्त्तध्यान से किसी प्रकार से भी उस देह में बुद्धि न करना, ऐसी ज्ञानीपुरुष के मार्ग की शिक्षा जानकर वैसे प्रसंग में आत्मकल्याण का लक्ष्य रखना योग्य है। (पत्रांक-४६०, २६वाँ वर्ष)



जीव अपनी कल्पना से मान लें कि ध्यान से कल्याण होता है या समाधि से या योग से या ऐसे ऐसे प्रकार से, परंतु उससे जीव का कुछ कल्याण नहीं होता। जीव का कल्याण होना तो ज्ञानीपुरुष के लक्ष्य में होता है, और उसे परम सत्संग से समझा जा सकता है; इसलिये वैसे विकल्प करना छोड़ देना चाहिये। (पत्रांक-४६६, २६वाँ वर्ष)



अनादि काल से विपर्यय बुद्धि होनेसे, और ज्ञानीपुरुष की कितनी ही चेष्टाएँ अज्ञानीपुरुष जैसी दिखायी देने से ज्ञानीपुरुष के विषय में विभ्रम बुद्धि हो आती है, अथवा जीव को ज्ञानीपुरुष के प्रति उस उस चेष्टा का विकल्प आया करता है। यदि दूसरी दृष्टियों से ज्ञानीपुरुष का यथार्थ निश्चय हुआ हो तो किसी विकल्प को उत्पन्न करनेवाली ऐसी ज्ञानी को उन्मतादि भाववाली चेष्टा प्रत्यक्ष देखने में आये तो भी दूसरी दृष्टि के निश्चय के बल के कारण

वह चेष्टा अविकल्परूप होती है; अथवा ज्ञानीपुरुष की चेष्टा की कोई अगम्यता ही ऐसी है कि अधूरी अवस्था से अथवा अधूरे निश्चय से जीव के लिये विभ्रम और विकल्प का कारण होती है। परंतु वास्तविक रूप में तथा पूरा निश्चय होनेपर वह विभ्रम और विकल्प उत्पन्न होने योग्य नहीं हैं; इसलिये इस जीव को ज्ञानीपुरुष के प्रति अधूरा निश्चय है, यही इस जीव का दोष है।

(पत्रांक-४६७, २६वाँ वर्ष)



जिस विद्या से उपशम गुण प्रगट नहीं हुआ, विवेक नहीं आया अथवा समाधि नहीं हुई उस विद्या के विषय में श्रेष्ठ जीव को आग्रह करना योग्य नहीं है। (पत्रांक-४८३, २७वाँ वर्ष)



व्यावहारिक प्रसंगों की नित्य चित्रविचित्रता है। मात्र कल्पना से उनमें सुख और कल्पना से दुःख ऐसी उनकी स्थिति है। अनुकूल कल्पना से वे अनुकूल भासित होते हैं; प्रतिकूल कल्पना से वे प्रतिकूल भासित होते हैं; और ज्ञानीपुरुषों ने उन दोनों कल्पनाएँ के करने का निषेध किया है। (पत्रांक-४९२, २७वाँ वर्ष)



जीव को मूलरूप से देखते हुए यदि मुमुक्षुता आयी हो तो नित्य प्रति उसका संसारबल घटता रहता है। संसार में धनादि संपत्ति का घटना या न घटना अनियत है; परंतु संसार के प्रति जीव की जो भावना है वह मंद होती रहे, अनुक्रम से नाश होनेयोग्य हो; यह बात इस काल में प्रायः देखने में नहीं आती। किसी भिन्न स्वरूप में मुमुक्षु को और भिन्न स्वरूप में मुनि आदि को देखकर विचार आता है कि ऐसे संग से जीव की ऊर्ध्वदशा होना योग्य नहीं परंतु अधोदशा होना योग्य है। फिर जिसे सत्संग का कुछ

प्रसंग हुआ है ऐसे जीव की व्यवस्था भी कालदोष से पलटते देर नहीं लगती। (पत्रांक-४९५, २७वाँ वर्ष)



जो मुमुक्षुजीव गृहस्थ व्यवहार में प्रवृत्त हो, उसे तो अखंड नीति का मूल प्रथम आत्मा में स्थापित करना चाहिये; नहीं तो उपदेशादि की निष्फलता होती है।

द्रव्यादि उत्पन्न करने आदि में सांगोपांग न्यायसंपन्न रहना, इसका नाम नीति है। यह नीति छोड़ते हुए प्राण जाने की दशा आनेपर त्याग और वैराग्य सच्चे स्वरूप में प्रगट होते हैं; और उसी जीव को सत्पुरुष के वचनों का तथा आज्ञाधर्म का अद्भुत सामर्थ्य, माहात्म्य और रहस्य समझ में आता है; और सभी वृत्तियों के निजरूप से प्रवृत्ति करने का मार्ग स्पष्ट सिद्ध होता है।

जो जीव सत्पुरुष का निश्चय हुआ है ऐसा मानता है, उसमें यदि उपर्युक्त नीति का प्राबल्य न हो और कल्याण की याचना करे तथा वार्ता करे, तो यह निश्चय मात्र सत्पुरुष को ठगने के समान है। यद्यपि सत्पुरुष तो निराकांक्षी है इसलिये उनके लिये तो ठगे जाने जैसा कुछ है नहीं, परंतु इस प्रकार से प्रवृत्ति करनेवाला जीव अपराधयोग्य होता है। इस बात पर वारंवार आपको और आपके समागम की इच्छा करनेवाले मुमुक्षुओं को ध्यान देना चाहिये। कठिन बात है, इसलिये नहीं हो सकती, यह कल्पना मुमुक्षु के लिये अहितकारी है और त्याज्य है। (पत्रांक-४९६, २७वाँ वर्ष)



उपदेश की आकांक्षा रहा करती है, ऐसी आकांक्षा मुमुक्षुजीव के लिये हितकारी है, जागृति का विशेष हेतु है। ज्यों ज्यों जीव में त्याग, वैराग्य और आश्रयभक्ति का बल बढ़ता है त्यों त्यों सत्पुरुष

के वचन का अपूर्व और अद्भुत स्वरूप भासित होता है, और बंधनिवृत्ति के उपाय सहज में सिद्ध होते हैं। प्रत्यक्ष सत्पुरुष के चरणारविंद का योग कुछ समय तक रहे तो फिर वियोग में भी त्याग, वैराग्य और आश्रयभक्ति की धारा बलवती रहती है; नहीं तो अशुभ देश, काल, संगीदि के योग से सामान्य वृत्ति के जीव त्याग-वैराग्यादि के बल में नहीं बढ़ सकते, अथवा मंद हो जाते हैं, अथवा उसका सर्वथा नाश कर देते हैं। (पत्रांक-४९७, २७वाँ वर्ष)



जिस व्यवसाय से जीव की भावनिद्रा न घटती हो वह व्यवसाय किसी प्रारब्धयोग से करना पड़ता हो तो वह पुनः पुनः पीछे हटकर 'मैं बड़ा भयंकर हिंसायुक्त यह दुष्ट काम ही किया करता हूँ' ऐसा पुनः पुनः विचारकर और 'जीव में ढीलेपने से ही प्रायः मुझे यह प्रतिबंध है,' ऐसा पुनः पुनः निश्चय करके जितना बने उतना व्यवसाय का संक्षेप करते हुए प्रवृत्ति हो, तो बोध का फलित होना संभव है। (पत्रांक-४९९, २७वाँ वर्ष)



शास्त्र में जो ज्ञान बताया गया है, वह ज्ञान दो प्रकार से विचारणीय है। एक प्रकार 'उपदेश' का और दूसरा प्रकार 'सिद्धांत' का है। "जन्ममरणादि क्लेशयुक्त इस संसार का त्याग करना योग्य है; अनित्य पदार्थ में विवेकी को रुचि करना नहीं होता; माता-पिता, स्वजनादि सब का 'स्वार्थरूप' संबंध होनेपर भी यह जीव उस जाल का आश्रय किया करता है, यही उसका अविवेक है; प्रत्यक्षरूप से त्रिविध तापरूप यह संसार ज्ञात होते हुए भी मूर्ख जीव उसी में विश्रान्ति चाहता है; परिग्रह, आरंभ और संग, ये सब अनर्थ के हेतु है," इत्यादि जो शिक्षा है, वह 'उपदेशज्ञान' है। "आत्मा का

अस्तित्व, नित्यत्व, एकत्व अथवा अनेकत्व, बंधादिभाव, मोक्ष, आत्मा की सर्व प्रकार की अवस्था, पदार्थ और उसकी अवस्था इत्यादि विषयों को दृष्टांतादि से जिस प्रकार से सिद्ध किया जाता है, वह ‘सिद्धांतज्ञान’ है।” (पत्रांक-५००, २७वाँ वर्ष)



सिद्धांतज्ञान तो जीव में किसी अत्यंत उज्ज्वल क्षयोपशम से और सद्गुरु के वचन की आराधना से उद्भूत होता है। सिद्धांतज्ञान का कारण उपदेशज्ञान है। सद्गुरु या सत्शास्त्र से जीव में पहले यह ज्ञान दृढ़ होना योग्य है कि जिस उपदेशज्ञान का फल वैराग्य और उपशम है। वैराग्य और उपशम का बल बढ़ने से जीव में सहज ही क्षयोपशम की निर्मलता होती है, और सहज सहज में सिद्धांतज्ञान होने का कारण होता है। यदि जीव में असंगदशा आ जाये तो आत्मस्वरूप का समझना एकदम सरल हो जाता है; और उस असंगदशा का हेतु वैराग्य और उपशम है।

(पत्रांक-५००, २७वाँ वर्ष)



वीतराग का कहा हुआ परम शांत रसमय धर्म पूर्ण सत्य है, ऐसा निश्चय रखना। जीव की अनधिकारिता के कारण तथा सत्पुरुष के योग के बिना समझ में नहीं आता; तो भी जीव के संसाररोग को मिटाने के लिये उस जैसा दूसरा कोई पूर्ण हितकारी औषध नहीं है, ऐसा वारंवार चिंतन करना। (पत्रांक-५०५, २७वाँ वर्ष)



ज्ञानीपुरुषों ने दो प्रकार से बोध दिया है। एक तो ‘सिद्धांतबोध’ और दूसरा उस सिद्धांतबोध के होने में कारणभूत ऐसा ‘उपदेशबोध’। यदि उपदेशबोध जीव के अंतःकरण में स्थितिमान हुआ न हो तो,

उसे सिद्धांतबोध का मात्र श्रवण भले ही हो, परंतु उसका परिणमन नहीं हो सकता। सिद्धांतबोध अर्थात् पदार्थ का जो सिद्ध हुआ स्वरूप है; ज्ञानीपुरुषों ने निष्कर्ष निकालकर जिस प्रकार से अंत में पदार्थ को जाना है, उसे जिस प्रकार से वाणी द्वारा कहा जा सके उस प्रकार बताया है, ऐसा जो बोध है वह 'सिद्धांतबोध' है। परंतु पदार्थ का निर्णय करने में जीव को अंतरायरूप उसकी अनादि विपर्यासभाव को प्राप्त हुई बुद्धि है, जो व्यक्तरूप से या अव्यक्तरूप से विपर्यासभाव से पदार्थस्वरूप का निर्धारण कर लेती है; उस विपर्यास बुद्धि का बल घटने के लिये, यथावत् वस्तुस्वरूप के ज्ञान में प्रवेश होनेके लिये, जीव को वैराग्य और उपशम साधन कहे हैं; और ऐसे जो जो साधन जीव को संसारभय दृढ़ कराते हैं, उन उन साधनों संबंधी जो उपदेश कहा है, वह 'उपदेशबोध' है।

यहाँ ऐसा भेद उत्पन्न होता है कि 'उपदेशबोध' की अपेक्षा 'सिद्धांतबोध' की मुख्यता प्रतीत होती है, क्योंकि उपदेशबोध भी उसीके लिये है, तो फिर यदि सिद्धांतबोध का ही पहले से अवगाहन किया हो तो वह जीव को पहले से ही उन्नति का हेतु है। यदि ऐसा विचार उत्पन्न हो तो वह विपरीत है, क्योंकि सिद्धांतबोध का जन्म उपदेशबोध से होता है। जिसे वैराग्य-उपशम संबंधी उपदेशबोध नहीं हुआ उसे बुद्धि की विपर्यासता रहा करती है, और जब तक बुद्धि की विपर्यासता हो तब तक सिद्धांत का विचार करना भी विपर्यासरूप से होना ही संभव है। क्योंकि चक्षु में जितना धुँधलापन रहता है, वह उतना ही पदार्थ को धुँधला देखता है, और यदि उसका पटल अत्यंत बलवान हो तो उसे समूचा पदार्थ दिखायी नहीं देता; तथा जिसका चक्षु यथावत् संपूर्ण तेजस्वी है, वह पदार्थ को भी यथायोग्य देखता है। इस प्रकार जिस जीव की गाढ़ विपर्यासबुद्धि है, उसे तो किसी भी तरह सिद्धांतबोध विचार में नहीं आ सकता। जिसकी

विपर्यासबुद्धि मंद हुई है उसे तदनुसार सिद्धांत का अवगाहन होता है; और जिसने उस विपर्यासबुद्धि को विशेषरूप से क्षीण किया है, ऐसे जीव को विशेषरूप से सिद्धांत का अवगाहन होता है।

(पत्रांक-५०६, २७वाँ वर्ष)



गृहकुटुंब परिग्रहादि भाव में जो अहंता ममता है और उसकी प्राप्ति-अप्राप्ति के प्रसंग में जो रागद्वेष कषाय है, वही 'विपर्यासबुद्धि' है; और जहाँ वैराग्य उपशम का उद्भव होता है, वहाँ अहंता-ममता तथा कषाय मंद पड़ जाते हैं; अनुक्रम से नष्ट होने योग्य हो जाते हैं। गृहकुटुंबादि भाव में अनासक्तबुद्धि होना 'वैराग्य' है; और उसकी प्राप्ति-अप्राप्ति के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले कषायक्लेश का मंद होना 'उपशम' है। अर्थात् ये दो गुण विपर्यासबुद्धि को पर्यायांतर करके सदबुद्धि करते हैं; और वह सदबुद्धि, जीवाजीवादि पदार्थ की व्यवस्था जिससे ज्ञात होती है ऐसे सिद्धांत की विचारणा करने योग्य होती है। क्योंकि जैसे चक्षु को पटलादि का अंतराय दूर होने से पदार्थ यथावत् दीखता है वैसे ही अहंतादि पटल की मंदता होने से जीव को ज्ञानीपुरुष के कहे हुए सिद्धांतभाव, आत्मभाव विचारचक्षु से दिखायी देते हैं। जहाँ वैराग्य और उपशम बलवान हैं, वहाँ विवेक बलवानरूप में होता है; जहाँ वैराग्य और उपशम बलवान नहीं होते वहाँ विवेक प्रबल नहीं होता, अथवा यथावत् विवेक नहीं होता। सहज आत्मस्वरूप ऐसा केवलज्ञान भी प्रथम मोहनीय कर्म के क्षय के बाद प्रगट होता है। और इस बात से उपर्युक्त सिद्धांत स्पष्ट समझा जा सकेगा।

फिर ज्ञानीपुरुषों की विशेष शिक्षा वैराग्य-उपशम का प्रतिबोध करती हुई दिखायी देती है। जिनागमपर दृष्टि डालने से यह बात

विशेष स्पष्ट जानी जा सकेगी। 'सिद्धांतबोध' अर्थात् जीवाजीव पदार्थ का विशेषरूप से कथन उस आगम में जितना किया है, उसकी अपेक्षा विशेषरूप से, अति विशेषरूप से वैराग्य और उपशम का कथन किया है, क्योंकि उसकी सिद्धि होने के पश्चात् सहज में ही विचार की निर्मलता होगी, और विचार की निर्मलता सिद्धांतरूप कथन को सहज में ही अथवा थोड़े ही परिश्रम से अंगीकार कर सकती है, अर्थात् उसकी भी सहज में ही सिद्धि होगी; और वैसा ही होते रहने से जगह जगह इसी अधिकार का व्याख्यान किया है। यदि जीव को आरंभ-परिग्रह की विशेष प्रवृत्ति रहती हो तो, वैराग्य और उपशम हो तो उनका भी नष्ट हो जाना संभव है, क्योंकि आरंभ-परिग्रह अवैराग्य और अनुपशम के मूल हैं, वैराग्य और उपशम के काल हैं। (पत्रांक-५०६, २७वाँ वर्ष)



जिस प्रकार से पुत्रादि संपत्ति में इस जीव को मोह होता है, वह प्रकार सर्वथा नीरस और निंदनीय है। जीव यदि थोड़ा भी विचार करे तो यह बात स्पष्ट समझ में आने जैसी है कि इस जीवने किसी में पुत्रत्व की भावना करके अपना अहित करने में कोई कसर नहीं रखी, और किसी को पिता मानकर भी वैसा ही किया है, और कोई जीव अभी तक तो पिता पुत्र हो सका हो ऐसा देखने में नहीं आया। सब कहते आते हैं कि इसका यह पुत्र अथवा इसका यह पिता है, परंतु विचार करते हुए स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह बात किसी भी काल में संभव नहीं है। अनुत्पन्न ऐसे इस जीव को पुत्ररूप से मानना अथवा ऐसा मनवाने की इच्छा रहना, यह सब जीव की मूढ़ता है, और यह मूढ़ता किसी भी

प्रकार से सत्संग की इच्छावाले जीव को करना योग्य नहीं है।
(पत्रांक-५१०, २७वाँ वर्ष)



सिद्धांत का विचार, बहुत सत्संग से तथा वैराग्य और उपशम का बल विशेषरूप से बढ़ने के बाद कर्तव्य है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो जीव दूसरे मार्ग में आरूढ़ होकर वैराग्य और उपशम से हीन हो जाता है। (पत्रांक-५१३, २७वाँ वर्ष)



अल्पकाल में अव्याबाध स्थिति होनेके लिये तो अत्यंत पुरुषार्थ करके जीव को परपरिचय से निवृत्ति होना ही योग्य है। धीरे धीरे निवृत्ति होनेके कारणों पर भार देने की अपेक्षा जिस प्रकार त्वरा से निवृत्ति हो वह विचार कर्तव्य है; और ऐसा करते हुए यदि असाता आदि आपत्तियोग का वेदन करना पड़ता हो तो उसका वेदन करके भी परपरिचय से शीघ्रतः दूर होने का उपाय करना योग्य है। इस बात का विस्मरण होने देना योग्य नहीं है।

(पत्रांक-५२५, २७वाँ वर्ष)



अहंतादि बढ़ने के लिये, बाह्य क्रिया अथवा मत के आग्रह के लिये, संप्रदाय चलाने के लिये, अथवा पूजाश्लाधादि प्राप्त करने के लिये किसी महापुरुष का कोई उपदेश नहीं है और वही कार्य करने की ज्ञानीपुरुष की सर्वथा आज्ञा है। अपने में उत्पन्न हुआ हो ऐसे महिमायोग्य गुण से उत्कर्ष प्राप्त करना योग्य नहीं है, परंतु अल्प भी निजदोष देखकर पुनः पुनः पश्चाताप करना योग्य है, और प्रमाद किये बिना उससे पीछे मुड़ना योग्य है; यह सूचना ज्ञानीपुरुष के वचन में सर्वत्र निहित है। और उस भाव के आनेके

लिये सत्संग, सद्गुरु और सत्शास्त्र आदि साधन कहे हैं, जो अनन्य निमित्त हैं। (पत्रांक-५२६, २७वाँ वर्ष)



श्री तीर्थकरादि ने बार-बार जीवों को उपदेश दिया है; परंतु जीव दिङ्मूढ रहना चाहता है, वहाँ उपाय नहीं चल सकता। पुनः पुनः ठोक-ठोककर कहा है कि एक यह जीव समझ ले तो सहज मोक्ष है, नहीं तो अनंत उपायों से भी नहीं है। और यह समझना भी कुछ विकट नहीं है, क्योंकि जीव का जो सहज स्वरूप है वही मात्र समझना है; और वह कुछ दूसरे के स्वरूप की बात नहीं है कि कदाचित् वह छिपा ले या न बताये कि जिससे समझ में न आवें। अपने से आप गुप्त रहना किस तरह हो सकता है ? परंतु स्वप्नदशा में जैसे न होने योग्य ऐसी अपनी मृत्यु को भी जीव देखता है, वैसे ही अज्ञानदशारूप स्वप्नरूप योग से यह जीव अपने को, जो अपने नहीं हैं ऐसे दूसरे द्रव्यों में निजरूप से मानता है; और यही मान्यता संसार है, यही अज्ञान है, नरकादि गति का हेतु यही है, यही जन्म है, मरण है, और यही देह है, देह का विकार है, यही पुत्र है, यही पिता, यही शत्रु, यही मित्रादि भावकल्पना का हेतु है; और जहाँ उसकी निवृत्ति हुई वहाँ सहज मोक्ष है; और इसी निवृत्ति के लिये सत्संग, सत्पुरुष आदि साधन कहे हैं; और वे साधन भी, यदि जीव अपने पुरुषार्थ को छिपाये बिना उनमें लगाये, तभी सिद्ध होते हैं। अधिक क्या कहें ? इतनी संक्षिप्त बात यदि जीव में परिणमित हो जाये तो वह सर्व व्रत, यम, नियम, जप, यात्रा, भक्ति, शास्त्रज्ञान आदि कर चुका, इसमें कुछ संशय नहीं है। (पत्रांक-५३७, २८वाँ वर्ष)



सर्व जीव आत्मरूप से समस्वभावी है। अन्य पदार्थ में जीव यदि निजबुद्धि करे तो परिभ्रमणदशा प्राप्त करता है, और निज में निजबुद्धि हो तो परिभ्रमणदशा दूर होती है। जिसके चित्त में ऐसे मार्ग का विचार करना आवश्यक है उसको, जिसके आत्मा में वह ज्ञान प्रकाशित हुआ है, उसकी दासानुदासरूप से अनन्य भक्ति करना ही परम श्रेय है। (पत्रांक-५३९, २८वाँ वर्ष)



जब तक परिग्रहादि का लेना-देना हो, ऐसा व्यवहार मुझे उदय में हो तब तक जिस किसी भी निष्काम मुमुक्षु या सत्पात्र जीव की तथा अनुकंपायोग्य जीव की, उसे बताये बिना, हमसे जो कुछ भी सेवाचाकरी हो सके, उसे द्रव्यादि पदार्थ से भी करना, क्योंकि ऐसा मार्ग ऋषभ आदि महापुरुषों ने भी कहीं कहीं जीव की गुण निष्पन्नता के लिये मान्य किया है; यह हमारा निजी (आंतरिक) विचार है, और ऐसे आचरण का सत्पुरुष के लिये निषेध नहीं है, किन्तु किसी तरह कर्तव्य है। यदि वह विषय या वह सेवाचाकरी मात्र सन्मुख जीव के परमार्थ को रोधक होते हों तो सत्पुरुष को भी उनका उपशमन करना चाहिये। (पत्रांक-५५०, २८वाँ वर्ष)



अस्वस्थ कार्य की प्रवृत्ति करना और आत्मपरिणाम को स्वस्थ रखना, ऐसी विषम प्रवृत्ति श्री तीर्थकर जैसे ज्ञानी से होनी कठिन कही है, तो फिर दूसरे जीव में यह बात संभवित करना कठिन हो, इसमें आश्चर्य नहीं है। (पत्रांक-५५१, २८वाँ वर्ष)



किसी भी परपदार्थ में इच्छा की प्रवृत्ति है, और किसी भी परपदार्थ के वियोग की चिंता है, इसे श्री जिनेन्द्र आर्तध्यान कहते हैं, इसमें

संदेह करना योग्य नहीं है। (पत्रांक-५५१, २८वाँ वर्ष)



श्री जिनेन्द्रने जो आत्मानुभव किया है, और पदार्थ के स्वरूप का साक्षात्कार करके जो निरूपण किया है, वह सर्व मुमुक्षुजीवों को परम कल्याण के लिये निश्चय करके विचार करने योग्य है। जिनकथित सर्व पदार्थों के भाव केवल आत्मा को प्रगट करने के लिये है, और मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति दो की होती है - एक आत्मज्ञानी की और एक आत्मज्ञानी के आश्रयवान की, ऐसा श्री जिनेन्द्रने कहा है। (पत्रांक-५५१स २८वाँ वर्ष)



काल की भी दुःषमता है। पूर्वकाल में जाना था और स्पष्ट प्रतीतिस्वरूप था कि ज्ञानीपुरुष को सकामता से भजते हुए आत्मा को प्रतिबंध होता है, और कई बार परमार्थदृष्टि मिटकर संसारार्थदृष्टि हो जाती है। ज्ञानी के प्रति ऐसी दृष्टि होनेसे पुनः सुलभबोधिता पाना कठिन पड़ता है, ऐसा जानकर कोई भी जीव सकामता से समागम न करे (पत्रांक-५५२, २८वाँ वर्ष)



बाह्य परिचय को सोच-सोचकर निवृत्त करना, यह छूटने का एक प्रकार है। जीव इस बात का जितना विचार करेगा उतना ज्ञानीपुरुष के मार्ग को समझने का समय समीप आयेगा।

(पत्रांक-५६५, २८वाँ वर्ष)



संसार का मुख्य कारण प्रेमबंधन तथा द्वेषबंधन सब ज्ञानियों ने स्वीकार किया है। उसकी आकुलता से जीव को निजविचार करने का अवकाश प्राप्त नहीं होता, अथवा होता हो तो ऐसे योग से उस बंधन के कारण से आत्मवीर्य प्रवृत्ति नहीं कर सकता, और

यह सब प्रमाद का हेतु है, और वैसे प्रमाद से लेशमात्र समय काल भी निर्भय रहना या अजागृत रहना, यह इस जीव की अतिशय निर्बलता है, अविवेकता है, भ्रांति है, और अत्यंत दुर्निवार्य ऐसा मोह है। (पत्रांक-५६६, २८वाँ वर्ष)



सर्व क्लेश से और सर्व दुःख से मुक्त होने का, आत्मज्ञान के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। सद्विचार के बिना आत्मज्ञान नहीं होता, और असत्संग-प्रसंग से जीव का विचारबल नहीं चलता, इसमें किंचित्मात्र संशय नहीं है। (पत्रांक-५६८, २८वाँ वर्ष)



जीव के विषय में, प्रदेश के विषय में, पर्याय के विषय में, तथा संख्यात, असंख्यात, अनंत आदि के विषय में यथाशक्ति विचार करना। जो कुछ अन्य पदार्थ का विचार करना है वह जीव के मोक्ष के लिये करना है, अन्य पदार्थ के ज्ञान के लिये नहीं करना है। (पत्रांक-५६८, २८वाँ वर्ष)



आरंभ-परिग्रह की अल्पता करने से असत्प्रसंग का बल घटता है, सत्संग के आश्रय से असत्संग का बल घटता है। असत्संग का बल घटने से आत्मविचार होने का अवकाश प्राप्त होता है। आत्मविचार होनेसे आत्मज्ञान होता है, और आत्मज्ञान से निजस्वभावस्वरूप, सर्व क्लेश एवं सर्व दुःखसे रहित मोक्ष प्राप्त होता है, यह बात सर्वथा सत्य है।

सर्व पदार्थ के स्वरूप को जानने का हेतु मात्र एक आत्मज्ञान करना ही है। यदि आत्मज्ञान न हो तो सर्व पदार्थों के ज्ञान की निष्फलता है।

जितना आत्मज्ञान होता है उतनी आत्मसमाधि प्रगट होती है। किसी भी तथारूप योगको प्राप्त करके जीवको एक क्षण भी अंतर्भेदजागृति हो जाये तो उससे मोक्ष विशेष दूर नहीं है।

अन्य परिणाममें जितनी तादात्म्यवृत्ति है, उतना जीवसे मोक्ष दूर है।

यदि कोई आत्मयोग बने तो इस मनुष्य भवका मूल्य किसी तरहसे नहीं हो सकता। प्रायः मनुष्यदेहके बिना आत्मयोग नहीं बनता ऐसा जानकर, अत्यंत निश्चय करके इसी देहमें आत्मयोग उत्पन्न करना योग्य है। (पत्रांक-५६९, २८वाँ वर्ष)



वह तादात्म्य - अध्यास-निवृत्तिरूप त्याग होनेके लिये यह बाह्य प्रसंगका त्याग भी उपकारी है, कार्यकारी है। बाह्य प्रसंगके त्यागके लिये अंतरत्याग कहा नहीं है, ऐसा है; तो भी इस जीवको अंतर्त्यागके लिये बाह्य प्रसंगकी निवृत्तिको कुछ भी उपकारी मानना योग्य है।

(पत्रांक-५६९, २८वाँ वर्ष)



ज्यों ज्यों उपाधि का त्याग होता है, त्यों त्यों समाधिसुख प्रगट होता है। ज्यों ज्यों उपाधि का ग्रहण होता है त्यों त्यों समाधिसुख की हानि होती है। विचार करें तो यह बात प्रत्यक्ष अनुभव में आती है। यदि इस संसार के पदार्थों का कुछ भी विचार किया जाये, तो उसके प्रति वैराग्य आये बिना नहीं रहेगा, क्योंकि मात्र अविचार के कारण उसमें मोहबुद्धि रहती है।

अनित्य पदार्थ के प्रति मोहबुद्धि होनेके कारण आत्मा का अस्तित्व, नित्यत्व और अव्याबाध समाधिसुख भान में नहीं आता। उसकी मोहबुद्धि में जीव को अनादि से ऐसी एकाग्रता चली आती है, कि उसका

विवेक करते करते जीव को अकुलाकर पीछे लौटना पड़ता है। और उस मोहग्रंथि को छेदने का समय आने से पहले वह विवेक छोड़ देने का योग पूर्व काल में बहुत बार हुआ है; क्योंकि जिसका अनादिकाल से अभ्यास है वह, अत्यंत पुरुषार्थ के बिना, अल्पकाल में छोड़ा नहीं जा सकता। इसलिये पुनः पुनः सत्संग, सत्शास्त्र और अपने में सरल विचारदशा करके उस विषय में विशेष श्रम करना योग्य है, कि जिसके परिणाम में नित्य शाश्वत सुखस्वरूप ऐसा आत्मज्ञान होकर स्वरूप का आविर्भाव होता है। इसमें प्रथम से उत्पन्न होनेवाले संशय धैर्य से और विचार से शांत होते हैं। अधीरता से अथवा टेढी कल्पना करने से मात्र जीव को अपने हित का त्याग करने का समय आता है, और अनित्य पदार्थ का राग रहने के कारण से पुनः पुनः संसारपरिभ्रमण का योग रहा करता है।

(पत्रांक-५७०, २८वाँ वर्ष)



उपाधि तो की जाये और सर्वथा असंगदशा रहे, ऐसा होना अत्यंत कठिन है; और उपाधि करते हुए आत्मपरिणाम चंचल न हो, ऐसा होना असंभवित जैसा है। उत्कृष्ट ज्ञानी को छोड़कर हम सब को तो यह बात अधिक ध्यान में रखने योग्य है कि आत्मा में जितनी असंपूर्णता-असमाधि रहती है अथवा रह सकने जैसी हो, उसका उच्छेद करना। (पत्रांक-५७१, २८वाँ वर्ष)



ज्ञानीपुरुष के आश्रय में विरोध करनेवाले पंच विषयादि दोष है। उन दोषों के होने के साधनों से यथाशक्ति दूर रहना, और प्राप्तसाधन में भी उदासीनता रखना, अथवा उन उन साधनोंमें से अहंबुद्धि को दूरकर, उन्हें रोगरूप समझकर प्रवृत्ति करना योग्य

है। अनादि दोष का ऐसे प्रसंग में विशेष उदय होता है। क्योंकि आत्मा उस दोष को नष्ट करने के लिये अपने सन्मुख लाता है कि वह स्वरूपांतर करके उसे आकर्षित करता है, और जागृति में शिथिल करके अपने में एकाग्र बुद्धि करा देता है। वह एकाग्र बुद्धि इस प्रकार की होती है कि, 'मुझे इस प्रवृत्ति से वैसी विशेष बाधा नहीं होगी, मैं अनुक्रम से उसे छोड़ूँगा, और करते हुए जागृत रहूँगा'; इत्यादि भ्रांतदशा उन दोषों से होती है; जिससे जीव उन दोषों का संबंध नहीं छोड़ता, अथवा वे दोष बढ़ते हैं, उसका ध्यान उसे नहीं आ सकता।

इस विरोधी साधन का दो प्रकार से त्याग हो सकता है - एक, उस साधन के प्रसंग की निवृत्ति, दूसरा, विचारपूर्वक उसकी तुच्छता समझना। (पत्रांक-५७२, २८वाँ वर्ष)



निर्विकल्प उपयोग का लक्ष्य स्थिरता का परिचय करने से होता है। सुधारस, सत्समागम, सत्शास्त्र, सद्दिचार और वैराग्य-उपशम ये सब उस स्थिरता के हेतु हैं। (पत्रांक-५८५, २८वाँ वर्ष)



ज्ञानीपुरुष के समागम की उपासना के बिना जीव स्वच्छंद से निश्चय करे, यह छूटने का मार्ग नहीं है।

(पत्रांक-५८८, २८वाँ वर्ष)



सभी जीव में परमात्मस्वरूप है, इसमें संशय नहीं है.... परंतु जब तक वह स्वरूप यथातथ्य प्रगट न हो, तब तक मुमुक्षु, जिज्ञासु रहना अधिक अच्छा है, और उस मार्ग से यथार्थ परमात्मस्वरूप प्रगट होता है। उस मार्ग को छोड़कर प्रवर्तन करने से उस पद

का भान नहीं होता; तथा श्री जिन वीतराग सर्वज्ञ पुरुषों की आसातना करनेरूप प्रवृत्ति होती है। दूसरा कोई मतभेद नहीं है।

(पत्रांक-५८८, २८वाँ वर्ष)



विषयादि इच्छित पदार्थ भोगकर उनसे निवृत्त होने की इच्छा रखना और उस क्रम से प्रवृत्ति करने से आगे जाकर उस विषयमूर्च्छा का उत्पन्न होना संभव न हो, ऐसा होना कठिन है; क्योंकि ज्ञानदशा के बिना विषय की निर्मूलता होना संभव नहीं है। विषय भोगने से मात्र उदय नष्ट होता है, परंतु यदि ज्ञानदशा न हो तो उत्सुक परिणाम, विषय का आराधन करते हुए, उत्पन्न हुए बिना नहीं रहते; और उससे विषय पराजित होनेके बदले विशेष वर्धमान होता है। जिन्हें ज्ञानदशा है वैसे पुरुष विषयाकांक्षा से अथवा विषय का अनुभव करके उससे विरक्त होने की इच्छा से उसमें प्रवृत्ति नहीं करते, और यदि ऐसे प्रवृत्ति करने लगे तो ज्ञानपर भी आवरण आना योग्य है। मात्र प्रारब्ध संबंधी उदय होता है अतः छूटा नहीं जा सकता; इसीलिये ज्ञानीपुरुष की भोगप्रवृत्ति है। वह भी पूर्वपश्चात् पश्चात्तापवाली और मंद में मंद परिणामसंयुक्त होती है। सामान्य मुमुक्षुजीव वैराग्य के उद्भव के लिये विषय का आराधन करने जाय तो प्रायः उसका बँधा जाना संभव है; क्योंकि ज्ञानीपुरुष भी उन प्रसंगों को बड़ी मुश्किल से जीत सके हैं; तो फिर जिसकी मात्र विचारदशा है ऐसे पुरुष की सामर्थ्य नहीं कि वह विषय को इस प्रकार से जीत सके। (पत्रांक-५९१, २८वाँ वर्ष)



जगत के सर्व पदार्थों की अपेक्षा जिसके प्रति सर्वोत्कृष्ट प्रीति है, ऐसी यह देह वह भी दुःख की हेतु है, तो दूसरे पदार्थों में

सुख के हेतु की क्या कल्पना करना ? (पत्रांक-५९२, २८वाँ वर्ष)



अनादिकाल से जीव ने निरंतर अस्वस्थता की आराधना की है, जिससे स्वस्थता की ओर आना उसे दुर्गम लगता है। श्री जिनेन्द्र ने ऐसा कहा है कि यथाप्रवृत्तिकरण तक जीव अनंत बार आया है, परंतु जिस समय ग्रंथिभेद होने तक आना होता है तब क्षोभयुक्त होकर फिर से संसारपरिणामी होता रहा है। ग्रंथिभेद होने में जो वीर्यगति चाहिये, उसके होनेके लिये जीव को नित्यप्रति सत्समागम, सद्विचार और सदग्रंथ का परिचय निरंतररूप से करना श्रेयभूत है। (पत्रांक५९३, २८वाँ वर्ष)



जीव को मुख्य से मुख्य और अवश्य से अवश्य यह निश्चय रखना चाहिये कि मुझे जो कुछ करना है वह आत्मा के लिये कल्याणरूप हो, वही करना है, और उसी के लिये इन तीन योगों की उदयबल से प्रवृत्ति होती हो तो होने देना, परंतु अंत में उस त्रियोग से रहित स्थिति करने के लिये उस प्रवृत्ति का संकोच करते करते क्षय हो जाये, यही उपाय कर्तव्य है। वह उपाय मिथ्याग्रह का त्याग, स्वच्छंद का त्याग, प्रमाद और इन्द्रियविषय का त्याग, यह मुख्य है। उसे सत्संग के योग में अवश्य आराधन करते ही रहना, और सत्संग की परोक्षता में तो अवश्य अवश्य आराधन किये ही जाना; क्योंकि सत्संग के प्रसंग में तो यदि जीव की कुछ न्यूनता हो तो उसके निवारण होने का साधन सत्संग है, परंतु सत्संग की परोक्षता में तो एक अपना आत्मबल ही साधन है। यदि वह आत्मबल सत्संग से प्राप्त हुए बोध का अनुसरण न करे, उसका आचरण न करे, आचरण में होनेवाले प्रमाद को न छोड़े, तो किसी

दिन भी जीव का कल्याण नहीं होगा।

(पत्रांक-६०९, २८वाँ वर्ष)



जो वैराग्यवान होता है उसका समागम कई प्रकार से आत्मभाव की उन्नति करता है। (पत्रांक-६१२, २८वाँ वर्ष)



जिस कषाय-परिणाम से अनंत संसार का बंध हो उस कषाय-परिणाम को जिनप्रवचन में 'अनंतानुबंधी' संज्ञा दी है। जिस कषाय में तन्मयता से अप्रशस्त (अशुभ) भाव से तीव्र उपयोग से आत्मा की प्रवृत्ति है, वहाँ 'अनंतानुबंधी' का संभव है। मुख्यतः यहाँ कहे हुए स्थानक में उस कषाय का विशेष संभव है। सद्देव, सद्गुरु और सद्धर्म का जिस प्रकार से द्रोह हो, अवज्ञा हो, तथा विमुखभाव हो, इत्यादि प्रवृत्ति से, तथा असद्देव, असद्गुरु तथा असद्धर्म का जिस प्रकार से आग्रह हो, तत्संबंधी कृतकृत्यता मान्य हो, इत्यादि प्रवृत्ति करते हुए 'अनंतानुबंधी कषाय' का संभव है; अथवा ज्ञानी के वचन में स्त्रीपुत्रादि भावों को, जिस मर्यादा के पश्चात् इच्छा करते हुए निर्ध्वंस परिणाम कहा है, उस परिणाम से प्रवृत्ति करते हुए भी 'अनंतानुबंधी' होने योग्य है। (पत्रांक-६१३, २८वाँ वर्ष)



सत्समागम और सत्शास्त्र का लाभ चाहनेवाले मुमुक्षुओं को आरंभ परिग्रह और रसस्वादादि का प्रतिबंध कम करना योग्य है, ऐसा श्री जिनादि महापुरुषों ने कहा है। जब तक अपने दोष विचारकर उन्हें कम करने के लिये प्रवृत्तिशील न हुआ जायेगा तब तक सत्पुरुष का कहा हुआ मार्ग परिणाम पाना कठिन है। इस बातपर मुमुक्षु जीव को विशेष विचार करना योग्य है। (पत्रांक-६१६, २८वाँ वर्ष)



निमित्त से जिसे हर्ष होता है, निमित्त से जिसे शोक होता है, निमित्त से जिसे इन्द्रियजन्य विषय के प्रति आकर्षण होता है, निमित्त से जिसे इन्द्रिय के प्रतिकूल प्रकारों में द्वेष होता है, निमित्त से जिसे उत्कर्ष आता है, निमित्त से जिसे कषाय उत्पन्न होता है, ऐसे जीव को यथाशक्ति उन-उन निमित्तवासी जीवों का संग छोड़ना योग्य है, और नित्य प्रति सत्संग करना योग्य है।

सत्संग के अयोग में तथा प्रकार के निमित्त से दूर रहना योग्य है। क्षण-क्षण में, प्रसंग प्रसंग पर और निमित्त निमित्त में स्वदशा के प्रति उपयोग देना योग्य है। (पत्रांक-६३६, २८वाँ वर्ष)



त्याग, वैराग्य, उपशम और भक्ति को सहज स्वभावरूप कर डाले बिना मुमुक्षुजीव को आत्मदशा कैसे आये ? परंतु शिथिलता से, प्रमाद से यह बात विस्मृत हो जाती है।

(पत्रांक- ६४३, २८वाँ वर्ष)



अनादि से विपरीत अभ्यास है, इससे वैराग्य, उपशमादि भावों की परिणति एकदम नहीं हो सकती, किंवा होनी कठिन पड़ती है, तथापि निरंतर उन भावों के प्रति ध्यान रखने से अवश्य सिद्धि होती है। सत्समागम का योग न हो तब वे भाव जिस प्रकार से वर्धमान हों उस प्रकार के द्रव्यक्षेत्रादि की उपासना करना, सत्शास्त्र का परिचय करना योग्य है। सब कार्य की प्रथम भूमिका विकट होती है, तो अनंतकाल से अनभ्यस्त ऐसी मुमुक्षुता के लिये वैसा हो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। (पत्रांक-६४४, २८वाँ वर्ष)



जिन पुरुषों की अंतर्मुखदृष्टि हुई है उन पुरुषों को भी सतत

जागृतिरूप शिक्षा श्री वीतराग ने दी है, क्योंकि अनंतकाल के अध्यासवाले पदार्थों का संग है वह कुछ भी दृष्टि को आकर्षित करे ऐसा भय रखना योग्य है। ऐसी भूमिका में इस प्रकार की शिक्षा योग्य है, ऐसा है तो फिर जिसकी विचारदशा है ऐसे मुमुक्षुजीव को सतत जागृति रखना योग्य है; ऐसा कहने में न आया हो, तो भी स्पष्ट समझा जा सकता है कि मुमुक्षुजीव को जिस जिस प्रकार से पर-अध्यास होने योग्य पदार्थ आदि का त्याग हो, उस उस प्रकार से अवश्य करना योग्य है। यद्यपि आरंभ-परिग्रह का त्याग स्थूल दिखायी देता है तथापि अंतर्मुखवृत्ति का हेतु होनेसे वारंवार उसके त्याग का उपदेश दिया है।

(पत्रांक-६५०, २८वाँ वर्ष)



जो कोई समझने और शांत होनेका ऐक्य करे, वह स्वानुभवपद में रहे; उसका परिभ्रमण निवृत्ति हो जाये। सद्गुरु की आज्ञा का विचार किये बिना जीवने उस परमार्थ को जाना नहीं; और जानने में प्रतिबंधरूप असत्संग, स्वच्छंद और अविचार का निरोध नहीं किया, जिससे समझना और शांत होना तथा दोनों का ऐक्य नहीं हुआ, ऐसा निश्चय प्रसिद्ध है। (पत्रांक-६५१, २९वाँ वर्ष)



जब तक गृहस्थादि व्यवहार रहे तब तक आत्मज्ञान नहीं होता, अथवा जिसे आत्मज्ञान हो, उसे गृहस्थादि व्यवहार नहीं होता, ऐसा नियम नहीं है। वैसा होनेपर भी परमपुरुषों ने ज्ञानी को भी त्याग व्यवहार का उपदेश किया है; क्योंकि त्याग ऐश्वर्य को स्पष्ट व्यक्त करता है, इससे और लोक को उपकाभूत होने से त्याग अकर्तव्यलक्ष्य से कर्तव्य है, इसमें संदेह नहीं है। (पत्रांक-६६४, २९वाँ वर्ष)



जो स्वरूप में स्थिति है, उसे 'परमार्थसंयम' कहा है। उस संयम के कारणभूत अन्य निमित्तों के ग्रहण को 'व्यवहारसंयम' कहा है। किसी ज्ञानीपुरुष ने उस संयम का भी निषेध नहीं किया है। परमार्थ की उपेक्षा (लक्ष के बिना) से जो व्यवहारसंयम में ही परमार्थसंयम की मान्यता रखे, उसके व्यवहारसंयम का उसका अभिनिवेश दूर करने के लिये, निषेध किया है। परंतु व्यवहारसंयम में कुछ भी परमार्थ की निमित्तता नहीं है, ऐसा ज्ञानीपुरुषों ने कहा नहीं है।
(पत्रांक-६६४, २९वाँ वर्ष)



उदय के योग से तथारूप आत्मज्ञान होने से पूर्व उपदेशकार्य करना पड़ता हो तो विचारवान मुमुक्षु परमार्थमार्ग के अनुसरण करने के हेतुभूत ऐसे सत्पुरुष की भक्ति, सत्पुरुष का गुणगान, सत्पुरुष के प्रति प्रमोदभावना और सत्पुरुष के प्रति अविरोधभावना का लोगों को उपदेश देता है; जिस तरह मतमतांतर का अभिनिवेश दूर हो, और सत्पुरुष के वचन ग्रहण करने की आत्मवृत्ति हो, वैसा करता है। वर्तमानकाल में उस प्रकार की विशेष हानि होगी, ऐसा जानकर ज्ञानीपुरुषों ने इस काल को दुष्काल कहा है, और वैसा प्रत्यक्ष दिखायी देता है।

सर्व कार्य में कर्तव्य मात्र आत्मार्थ है, यह सम्यग् भावना मुमुक्षुजीव को नित्य करना योग्य है। (पत्रांक-६७०, २९वाँ वर्ष)



यथार्थज्ञान उत्पन्न होने से पहले जिन जीवों को, उपदेश देने का रहता हो उन जीवों को, जिस तरह वैराग्य, उपशम और भक्ति का लक्ष्य हो, उस तरह प्रसंगप्राप्त जीवों को उपदेश देना योग्य है; और जिस तरह उनका नाना प्रकार के असद्आग्रह का तथा

सर्वथा वेषव्यवहारादि का अभिनिवेश कम हो, उस तरह उपदेश परिणमित हो वैसे आत्मार्थ विचारकर कहना योग्य है। क्रमशः वे जीव यथार्थ मार्ग के सन्मुख हों ऐसा यथाशक्ति उपदेश कर्तव्य है। (पत्रांक-६७३, २९वाँ वर्ष)



जितनी अपनी शक्ति हो उस सारी शक्ति से एक लक्ष्य रखकर, लौकिक अभिनिवेश को कम करके, कुछ भी अपूर्व निरावरणता दीखती नहीं है, इसलिये 'समझ का केवल अभिमान है', इस तरह जीव को समझाकर जिस प्रकार जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सतत जाग्रत हो, वही करने में वृत्ति लगाना, और रात-दिन उसी चिंतन में प्रवृत्ति करना यही विचारवान जीव का कर्तव्य है; और उसके लिये सत्संग, सत्शास्त्र और सरलता आदि निजगुण उपकारभूत है, ऐसा विचारकर उसका आश्रय करना योग्य है।

(पत्रांक-६७७, २९वाँ वर्ष)



जब तक लौकिक अभिनिवेश अर्थात् द्रव्यादि लोभ, तृष्णा, दैहिक मान, कुल, जाति आदि संबंधी मोह या विशेषत्व मानना हो, वह बात न छोड़नी हो, अपनी बुद्धि से स्वेच्छा से अमुक गच्छादि का आग्रह रखना हो, तब तक जीव में अपूर्व गुण कैसे उत्पन्न हो ? इसका विचार सुगम है। (पत्रांक-६७७, २९वाँ वर्ष)



ज्ञानी की वाणी पूर्वापर अविरोधी, आत्मार्थ-उपदेशक और अपूर्व अर्थ का निरूपण करनेवाली होती है, और अनुभवसहित होनेसे आत्मा को सतत जाग्रत करनेवाली होती है। शुष्कज्ञानी की वाणी में तथारूप गुण नहीं होते। सर्व से उत्कृष्ट गुण जो पूर्वापर अविरोधिता है,

वह शुष्कज्ञानी की वाणी में नहीं हो सकता, क्योंकि उसे यथास्थित पदार्थदर्शन नहीं होता; और इस कारण से जगह जगह उसकी वाणी कल्पना से युक्त होती है। (पत्रांक-६७९, २९वाँ वर्ष)



ज्ञानमार्ग दुराराध्य है। परमावगाढदशा पाने से पहले उस मार्ग में पतन के बहुत स्थान हैं। संदेह, विकल्प, स्वच्छंदता, अतिपरिणामिता इत्यादि कारण वारंवार जीव के लिये उस मार्ग से पतन के हेतु होते हैं, अथवा ऊर्ध्वभूमिका प्राप्त होने नहीं देते।

क्रियामार्ग में असद्अभिमान, व्यवहार-आग्रह, सिद्धिमोह, पूजासत्कारादि योग और दैहिक क्रिया में आत्मनिष्ठा आदि दोषों का संभव रहा है।

किसी एक महात्मा को छोड़कर बहुत से विचारवान जीवों ने इन्हीं कारणों से भक्तिमार्ग का आश्रय लिया है, और आज्ञाश्रितता अथवा परमपुरुष सद्गुरु में सर्वार्पण-स्वाधीनता को शिरसावद्य माना है, और वैसी ही प्रवृत्ति की है। तथापि वैसा योग प्राप्त होना चाहिये; नहीं तो चिंतामणि जैसा जिसका एक समय है ऐसी मनुष्यदेह उलटे परिभ्रमणवृद्धि का हेतु होती है। (पत्रांक-६९३, २९वाँ वर्ष)



प्रत्यक्ष सत्समागम में भक्ति, वैराग्य आदि दृढ़ साधनसहित मुमुक्षु को सद्गुरु की आज्ञा से द्रव्यानुयोग विचारणीय है।

(पत्रांक-६९८, २९वाँ वर्ष)



लोकसमुदाय कुछ भला होनेवाला नहीं है, अथवा स्तुतिनिंदा के प्रयत्नार्थ इस देह की प्रवृत्ति विचारवान के लिये कर्तव्य नहीं है। अंतर्मुखवृत्ति रहित बाह्यक्रिया के विधि-निषेध में कुछ भी वास्तविक

कल्याण नहीं है। गच्छादि भेद का निर्वाह करने में, नाना प्रकार के विकल्प सिद्ध करने में आत्मा को आवृत्त करने के बराबर है। अनेकांतिक मार्ग भी सम्यग्, एकांत निजपद की प्राप्ति कराने के सिवाय दूसरे किसी अन्य हेतु से उपकारी नहीं है, ऐसा जानकर लिखा है। वह मात्र अनुकंपा बुद्धि से, निराग्रह से, निष्कपटता से, निर्दभता से और हितार्थ लिखा है। (पत्रांक-७०२, २९वाँ वर्ष)



जिनोक्त मार्ग का भी ऐसा एकांत सिद्धांत नहीं है कि चाहे जिस उमर में चाहे जिस मनुष्य को त्याग करना चाहिये। तथारूप सत्संग और सद्गुरु का योग होनेपर, उस आश्रय से कोई पूर्व के संस्कारवाला अर्थात् विशेष वैराग्यवान पुरुष गृहस्थाश्रम को ग्रहण करने से पहले त्याग करे तो उसने योग्य किया है, ऐसा जिनसिद्धांत प्रायः कहता है।

इंद्रियाँ आदि जिसकी शांति नहीं हुई हैं, ज्ञानीपुरुष की दृष्टि में अभी जो त्याग करने के योग्य नहीं है, ऐसे किसी मंद अथवा मोहवैराग्यवान जीव को त्याग अपनाना प्रशस्त ही है, ऐसा जिनसिद्धांत कुछ एकांतरूप से नहीं है। (पत्रांक-७०३, २९वाँ वर्ष)



जहाँ तक हो सके वहाँ तक ज्ञानीपुरुष के वचनों को लौकिक आशय में न लेना; अथवा अलौकिक दृष्टि से विचारना योग्य है; और जहाँ तक हो सके वहाँ तक लौकिक प्रश्नोत्तर में भी विशेष उपकार के बिना पड़ना योग्य नहीं है। वैसे प्रसंगों से कई बार परमार्थदृष्टि को क्षुब्ध करने जैसा परिणाम आता है।

(पत्रांक-७०३, २९वाँ वर्ष)



जब तक कम उपाधिवाले क्षेत्र में आजीविका चलती हो तब तक विशेष प्राप्त करने की कल्पना से मुमुक्षु को, किसी एक विशेष अलौकिक हेतु के बिना अधिक उपाधिवाले क्षेत्र में जाना योग्य नहीं है; क्योंकि उससे बहुत सी सद्वृत्तियाँ मंद पड़ जाती हैं, अथवा वर्धमान नहीं होती। (पत्रांक-७०६, २९वाँ वर्ष)



वैराग्यादि सफल तो, जो सह आतमज्ञान।
 तेम ज आतमज्ञाननी, प्राप्तिपणां निदान॥६॥
 त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान।
 अटके त्याग विरागमां, तो भूले निजभान॥७॥
 ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहाँ समजवुं तेह।
 त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह॥८॥
 सेवे सदगुरुचरणने, त्यागी दर्ई निजपक्ष।
 पामे ते परमार्थने, निजपदनो ले लक्ष॥९॥
 रोके जीव स्वच्छंद तो, पामे अवश्य मोक्ष।
 पाम्या एम अनंत छे, भाख्युं जिन निर्दोष॥१५॥
 प्रत्यक्ष सदगुरु योगथी, स्वच्छंद ते रोकाय।
 अन्य उपाय कर्या थकी, प्राये बमणो थाय॥१६॥
 स्वच्छंद, मत आग्रह तजी, वर्ते सदगुरुलक्ष।
 समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष॥१७॥
 मानादिक शत्रु महा, निज छंदे न मराय।
 जातां सदगुरु शरणमां, अल्प प्रयासे जाय॥१८॥
 आत्मभ्रांति सम रोग नहि, सदगुरु वैद्य सुजाण।
 गुरुआज्ञा सम पथ्य नहि, औषध विचार ध्यान॥१२९॥

जो इच्छो परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ।
 भवरिथिति आदि नाम लई, छेदो नहि आत्मार्थ॥१३०॥
 सर्व जीव छे सिद्ध सम, जे समजे ते थाय।
 सदगुरुआज्ञा जिनदशा, निमित्त कारण मांय॥१३५॥

(पत्रांक-७१८, २९वाँ वर्ष)



सत्पुरुष की आज्ञा में चलने का जिसका दृढ़ निश्चय है और जो उस निश्चय का आराधन करता है, उसे ही ज्ञान सम्यक् परिणामी होता है, यह बात आत्मार्थी जीव को अवश्य ध्यान में रखना योग्य है। (पत्रांक-७१९, २९वाँ वर्ष)



अनंतबार देह के लिये आत्मा का उपयोग किया है। जिस देह का आत्मा के लिये उपयोग होगा उस देह में आत्मविचार का आविर्भाव होने योग्य जानकर, सर्व देहार्थ की कल्पना छोड़कर; एक मात्र आत्मार्थ में ही उसका उपयोग करना, ऐसा निश्चय मुमुक्षुजीव को अवश्य करना चाहिये। (पत्रांक-७१९, २९वाँ वर्ष)



जो ज्ञान महा निर्जरा का हेतु होता है वह ज्ञान अनधिकारी जीव के हाथ में जानेसे उसे प्रायः अहितकारी होकर परिणत होता है। (पत्रांक-७२१, २९वाँ वर्ष)



जत तक यह जीव लोकदृष्टि का वमन न करे तथा उसमें से अंतर्वृत्ति छूट न जाय तब तक ज्ञानी की दृष्टि का वास्तविक माहात्म्य ध्यानगत नहीं हो सकता, इसमें संशय नहीं है।

(पत्रांक-७२३, ३०वाँ वर्ष)



अल्य आयु और अनियत प्रवृत्ति, असीम बलवान असत्संग, पूर्व की प्रायः अनाराधकता, बलवीर्य की हीनता ऐसे कारणों से रहित कोई ही जीव होगा, ऐसे इस काल में, पूर्व काल में कभी भी न जाना हुआ, प्रतीत न किया हुआ, आराधित न किया हुआ और स्वभावसिद्ध न हुआ हुआ ऐसा "मार्ग" प्राप्त करना दुष्कर हो इसमें आश्चर्य नहीं है। तथापि जिसने उसे प्राप्त करने के सिवाय दूसरा कोई लक्ष्य रखा ही नहीं वह इस काल में भी अवश्य उस मार्ग को प्राप्त करता है। (पत्रांक-७२७, ३०वाँ वर्ष)



सभी देहधारी जीव मरण के समीप शरणरहित हैं। मात्र उस देह के यथार्थ स्वरूप को पहले से जानकर, उसके ममत्व का छेदन कर निजस्थिरता को अथवा ज्ञानी के मार्ग की यथार्थ प्रतीति को प्राप्त हुए हैं वे ही जीव उस मरणकाल में शरणसहित होकर प्रायः फिर से देह धारण नहीं करते, अथवा मरणकाल में देह के ममत्वभाव की अल्पता होनेसे भी निर्भय रहते हैं। देह छूटने का काल अनियत होनेसे विचारवान पुरुष अप्रमादभाव से पहले से ही उसके ममत्व को निवृत्त करने के अविरुद्ध उपाय का साधन करते हैं; और यही आपको, हमें और सब को ध्यान में रखना योग्य है। प्रीतिबंधन से खेद होना योग्य है, तथापि इसमें दूसरा कोई उपाय न होनेसे, उस खेद को वैराग्यस्वरूप में परिणमन करना ही विचारवान का कर्तव्य है। (पत्रांक-७२८, ३०वाँ वर्ष)



लोकदृष्टि में जो जो बातें या वस्तुएँ - जैसे शोभायमान गृहादि आरंभ, अलंकारादि परिग्रह, लोकदृष्टि की विचक्षणता, लोकमान्य धर्म की श्रद्धा - बड़प्पनवाली मानी जाती हैं उन सब बातों और

वस्तुओं का ग्रहण करना प्रत्यक्ष जहर का ही ग्रहण करना है यों यथार्थ समझे बिना आप जिस वृत्ति का लक्ष्य करना चाहते हैं वह नहीं होता। पहले इन बातों और वस्तुओं के प्रति जहरदृष्टि आना कठिन देखकर कायर न होते हुए पुरुषार्थ करना योग्य है।

(पत्रांक-७२९, ३०वाँ वर्ष)



वृत्ति का लक्ष्य तथारूप सर्वसंगपरित्याग के प्रति रहनेपर भी जिस मुमुक्षु को प्रारब्धविशेष से उस योग का अनुदय रहा करता है, और कुटुंब आदि के प्रसंग तथा आजीविका आदि के कारण प्रवृत्ति रहती है, जो यथान्याय करनी पड़ती है, परंतु उसे त्याग के उदय को प्रतिबंधक जानकर खिन्नता के साथ करता है; उस मुमुक्षु को, पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मानुसार आजीविकादि प्राप्त होगी, ऐसा विचारकर मात्र निमित्तरूप प्रयत्न करना योग्य है, परंतु भयाकुल होकर चिंता या न्यायत्याग करना योग्य नहीं है, क्योंकि वह तो मात्र व्यामोह है; इसे शांत करना योग्य है। प्राप्ति शुभाशुभ प्रारब्धानुसार है। प्रयत्न व्यावहारिक निमित्त है, इसलिये करना योग्य है, परंतु चिंता तो मात्र आत्मगुणरोधक है। (पत्रांक-७३१, ३०वाँ वर्ष)



आरंभ और परिग्रह का इच्छापूर्वक प्रसंग हो तो आत्मलाभ को विशेष घातक है, और वारंवार अस्थिर एवं अप्रशस्त परिणाम का हेतु है, इसमें तो संशय नहीं है; परंतु जहाँ अनिच्छा से उदय के किसी एक योग से वह प्रसंग रहता हो वहाँ भी आत्मभाव की उत्कृष्टता को बाधक तथा आत्मस्थिरता को अंतराय करनेवाला, वह आरंभ-परिग्रह का प्रसंग प्रायः होता है, इसलिये परम कृपालु ज्ञानीपुरुषों ने त्यागमार्ग का उपदेश दिया है, वह मुमुक्षुजीव को

देश से और सर्वथा अनुसरण करने योग्य है।

(पत्रांक-७३७, ३०वाँ वर्ष)



'ज्ञान का फल विरति है।' वीतराग का यह वचन सभी मुमुक्षुओं को नित्य स्मरण में रखने योग्य है। जिसे पढ़ने से, समझने से और विचारने से आत्मा विभाव से, विभाव के कार्यों से और विभाव के परिणाम से उदास न हुआ, विभाव का त्यागी न हुआ, विभाव के कार्यों का और विभाव के फल का त्यागी न हुआ; वह पढ़ना, वह विचारना और वह समझना अज्ञान है। विचारवृत्ति के साथ त्यागवृत्ति को उत्पन्न करना यही विचार सफल है, यह ज्ञानी के कहने का परमार्थ है। (पत्रांक-७४९, ३०वाँ वर्ष)



सर्व जीव-हितकारी ज्ञानीपुरुष की वाणी को किसी भी एकांत दृष्टि को ग्रहण करके अहितकारी अर्थ में न ले जायें, यह उपयोग निरंतर स्मरण में रखना योग्य है। (पत्रांक-७७२, ३०वाँ वर्ष)



त्याग की वारंवार विशेष अभिलाषा होनेपर भी, संसार के प्रति विशेष उदासीनता होनेपर भी, किसी एक पूर्व कर्म के प्राबल्य से जो जीव गृहस्थावास का त्याग नहीं कर सकता, वह पुरुष गृहस्थावास में कुटुंब आदि के निर्वाह के लिये जो कुछ प्रवृत्ति करता है, उसमें उसके परिणाम जैसे जैसे रहते हैं, तदनुसार बंधादि होते हैं। मोह हो किंतु अनुकंपा माने, अथवा प्रमाद हो किंतु उदय माने तो इससे कर्मबंध कुछ धोखा नहीं खाता। वह तो यथापरिणाम बंध को प्राप्त होता है। कर्म के सूक्ष्म प्रकारों का मति यदि विचार न कर सके तो भी शुभ और अशुभ कर्म सफल हैं, इस निश्चय का जीव को

विस्मरण नहीं करना चाहिये। (पत्रांक-७७३, ३०वाँ वर्ष)



जब उस समागम का योग न हो तब आरंभ-परिग्रह की ओर से वृत्ति को हटाकर सत्शास्त्र का परिचय विशेषतः कर्तव्य है। व्यावहारिक कार्यों की प्रवृत्ति करनी पड़ती हो तो भी जो जीव उसमें वृत्ति को मंद करने की इच्छा करता है वह जीव उसे मंद कर सकता है, और सत्शास्त्र के परिचय के लिये बहुत अवकाश प्राप्त कर सकता है। आरंभ-परिग्रह से जिनकी वृत्ति खिन्न हो गई है, अर्थात् उसे असार समझकर जो जीव उससे पीछे हट गये हैं, उन जीवों को सत्पुरुषों का समागम और सत्शास्त्र का श्रवण विशेषतः हितकारी होता है। जिस जीव की आरंभ-परिग्रह में विशेष वृत्ति रहती हो, उस जीव में सत्पुरुष के वचनों का अथवा सत्शास्त्र का परिणामन होना कठिन है।

आरंभ परिग्रह में वृत्ति को मंद करना और सत्शास्त्र के परिचय में रुचि करना प्रथम तो कठिन पड़ता है, क्योंकि जीव का अनादि प्रकृतिभाव उससे भिन्न है; तो भी जिसने वैसा करने का निश्चय कर लिया है वह वैसा कर सका है; इसलिये विशेष उत्साह रखकर वह प्रवृत्ति कर्तव्य है।

सब मुमुक्षुओं को इस बात का निश्चय और नित्य नियम करना योग्य हैं, प्रमाद और अनियमितता दूर करना योग्य है।

(पत्रांक-७८३, ३०वाँ वर्ष)



किसी एक जड़-क्रिया में प्रवृत्ति करके जो ज्ञानी के मार्ग से विमुख रहता हो, अथवा मति की मूढ़ता के कारण ऊँची दशा को पाने से रुक जाता हो, अथवा असत्समागम से मतिव्यामोह को

प्राप्त होकर जिसने अन्यथा त्याग-वैराग्य को सच्चा त्याग-वैराग्य मान लिया हो, उसका निषेध करने के लिये करुणाबुद्धि से ज्ञानी योग्य वचन से क्वचित् उसका निषेध करते हों, तो व्यामोह प्राप्त न होते हुए उसका सद्हेतु समझकर यथार्थ त्याग-वैराग्य की अंतर तथा बाह्य क्रिया में प्रवृत्ति करना योग्य है।

(पत्रांक-७८५, ३०वाँ वर्ष)



सत्पुरुष की वाणी विषय और कषाय के अनुमोदन से अथवा रागद्वेष के पोषण से रहित होती है, यह निश्चय रखें, और चाहे जैसे प्रसंग में उसी दृष्टि से अर्थ करना योग्य है।

(पत्रांक-७९३, ३०वाँ वर्ष)



लोकदृष्टि और ज्ञानी की दृष्टि में पश्चिम पूर्व जितना अंतर है। ज्ञानी की दृष्टि प्रथम तो निरालंबन है, रुचि उत्पन्न नहीं करती, जीव की प्रकृति से मेल नहीं खाती, जिससे जीव उस दृष्टि में रुचिमान नहीं होता। परंतु जिन जीवों ने परिषह सहन करके कुछ समय तक उस दृष्टि का आराधन किया है, वे सर्व दुःख के क्षयरूप निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, उसके उपाय को प्राप्त हुए हैं।

(पत्रांक-८१०, ३०वाँ वर्ष)



खेद न करते हुए शूरवीरता ग्रहण करके ज्ञानी के मार्ग पर चलने से मोक्षपट्टन सुलभ ही है। विषय-कषाय आदि विशेष विकार कर डालें, उस समय विचारवान को अपनी निर्वीर्यता देखकर बहुत ही खेद होता है, और वह आत्मा की वारंवार निंदा करता है, पुनः पुनः तिरस्कार-वृत्ति से देखकर, पुनः महापुरुष के चरित्र और

वाक्य का अवलंबन ग्रहण कर, आत्मा में शौर्य उत्पन्न कर, उन विषयादि के विरुद्ध अति हठ करके उन्हें हटाता है; तब तक हिंमत हारकर बैठ नहीं जाता, और केवल खेद करके रुक नहीं जाता। इसी वृत्ति का अवलंबन आत्मार्थी जीवों ने लिया है; और इसीसे अंत में विजय पाई है। यह बात सभी मुमुक्षुओं को मुख्याग्र करके हृदय में स्थिर करना योग्य है। (पत्रांक-८१९, ३१वाँ वर्ष)



जीव को सत्श्रुत का परिचय अवश्य ही कर्तव्य है। मल, विक्षेप और प्रमाद उसमें वारंवार अंतराय करते हैं, क्योंकि दीर्घकाल से परिचित हैं; परंतु यदि निश्चय करके उन्हें अपरिचित करने की प्रवृत्ति की जाये तो ऐसे हो सकता है। यदि मुख्य अंतराय हो तो वह जीव का अनिश्चय है। (पत्रांक-८२६, ३१वाँ वर्ष)

सर्व जगत के जीव कुछ न कुछ प्राप्त करके सुख प्राप्त करना चाहते हैं; महान चक्रवर्ती राजा भी बढ़ते हुए वैभव, परिग्रह के संकल्प में प्रयत्नवान है; और प्राप्त करने में सुख मानता है; परंतु अहो ! ज्ञानियों ने तो उससे विपरीत ही सुख का मार्ग निर्णीत किया कि किंचित्मात्र भी ग्रहण करना यही सुख का नाश है। (पत्रांक-८३२, ३१वाँ वर्ष)



विषय से जिसकी इन्द्रियाँ आर्त है उसे शीतल आत्मसुख, आत्मतत्त्व कहाँ से प्रतीति में आयेगा ? (पत्रांक-८३२, ३१वाँ वर्ष)



अज्ञान से और स्वस्वरूप के प्रमाद से आत्मा को मात्र मृत्यु की भ्रांति है। उसी भ्रांति को निवृत्त करके शुद्ध चैतन्य निजअनुभवप्रमाणस्वरूप में परम जाग्रत होकर ज्ञानी सदैव निर्भय है।

इसी स्वरूप के लक्ष्य से सर्व जीवों के प्रति साम्यभाव उत्पन्न होता है। सर्व पर द्रव्य से वृत्ति को व्यावृत्त करके आत्मा अक्लेश समाधि को पाता है। (पत्रांक-८३३, ३९वाँ वर्ष)



समदर्शिता अर्थात् लौकिकभाव में समान-भाव, अभेद-भाव, एक समान-बुद्धि और निर्विशेषता नहीं; अर्थात् काच और हीरा दोनों को समान समझना, अथवा सत्श्रुत और असत्श्रुत में समत्व समझना, अथवा सद्धर्म और असद्धर्म में अभेद मानना, अथवा सद्गुरु और असद्गुरु में एकसी बुद्धि रखना, अथवा सद्देव और असद्देव में निर्विशेषता दिखाना अर्थात् दोनों को एकसा समझना, इत्यादि समान वृत्ति, यह समदर्शिता नहीं, यह तो आत्मा की मूढता, विवेक-शून्यता, विवेक-विकलता है।

समदर्शी सत् को सत् जानता है, सत् का बोध करता है; असत् को असत् जानता है, असत् का निषेध करता है; सत्श्रुत को सत्श्रुत जानता है, उसका बोध करता है; कुश्रुत को कुश्रुत जानता है, उसका निषेध करता है; सद्धर्म को सद्धर्म जानता है, उसका बोध करता है; असद्धर्म को असद्धर्म जानता है, उसका निषेध करता है; सद्गुरु को सद्गुरु जानता है, उसका बोध करता है; असद्गुरु को असद्गुरु जानता है, उसका निषेध करता है, सद्देव को सद्देव जानता है, उसका बोध करता है; असद्देव को असद्देव जानता है, उसका निषेध करता है; इत्यादि जो जैसा होता है, उसे वैसा देखता है, जानता है और उसका प्ररूपण करता है; उसमें रागद्वेष, इष्टानिष्टबुद्धि नहीं करता; इस प्रकार से समदर्शिता समझे।

(पत्रांक-८३७, ३९वाँ वर्ष)



प्रमाद और लोक-पद्धति में काल सर्वथा वृथा गँवा देना, यह मुमुक्षुजीव का लक्षण नहीं है। (पत्रांक-८४२, ३१वाँ वर्ष)



जैसे बने वैसे वीतराग श्रुत का अनुप्रेक्षण (चिंतन) विशेष कर्तव्य है। प्रमाद परम रिपु है, यह वचन जिन्हें सम्यक् निश्चित हुआ है वे पुरुष कृतकृत्य होने तक निर्भयता से वर्तन करने के स्वप्न की भी इच्छा नहीं करते। (पत्रांक-८५३, ३२वाँ वर्ष)



महापुरुष का निरंतर अथवा विशेष समागम, वीतरागश्रुत का चिंतन और गुणजिज्ञासा दर्शनमोह के अनुभाग के घटने के मुख्य हेतु हैं। इससे स्वरूपदृष्टि सहज में परिणमित होती है।

(पत्रांक-८६०, ३२वाँ वर्ष)

आत्मार्थी को, बोध कब परिणमित हो सकता है, यह भाव स्थिरचित्त से विचारणीय है, जो मूलभूत है। (पत्रांक-८६३, ३२वाँ वर्ष)



अमुक असद्वृत्तियों का प्रथम अवश्य ही निरोध करना योग्य है। इस निरोध के हेतु का दृढ़ता से अनुसरण करना ही चाहिये, इसमें प्रमाद करना योग्य नहीं है। (पत्रांक-८६३, ३२वाँ वर्ष)



अनेक शास्त्रों और वाक्यों का अभ्यास करने की अपेक्षा जीव यदि ज्ञानीपुरुषों की एक एक आज्ञा की उपासना करे, तो अनेक शास्त्रों से होनेवाला फल सहज में प्राप्त होता है।

(पत्रांक-८८५, ३२वाँ वर्ष)



जब तीन योग की अल्प प्रवृत्ति हो, वह भी सम्यक् प्रवृत्ति हो तब महापुरुष के वचनामृत का मनन परम श्रेय के मूल को दृढ़ीभूत करता है; क्रम से परमपद को संप्राप्त करता है।

चित्त को विक्षेपरहित रखकर परमशांत श्रुत का अनुप्रेक्षण कर्तव्य है। (पत्रांक-८८६, ३२वाँ वर्ष)



इंद्रियनिग्रह के अभ्यासपूर्वक सत्श्रुत और सत्समागम निरंतर उपासनीय है। (पत्रांक-८८८, ३२वाँ वर्ष)



जिन ज्ञानीपुरुषों का देहाभिमान दूर हुआ है उन्हें कुछ करना बाकी नहीं रहा, ऐसा है, तो भी उन्हें सर्वसंगपरित्यागादि सत्पुरुषार्थता परमपुरुष ने उपकारभूत कही है। (पत्रांक-८९५, ३२वाँ वर्ष)



देह जीव एकरूपे भासे छे अज्ञान वडे,
क्रियानी प्रवृत्ति पण तेथी तेम थाय छे;
जीवनी उत्पत्ति अने रोग, शोक, दुःख, मृत्यु,
देहनो स्वभाव जीव पदमां जणाय छे;
एवो जे अनादि एकरूपनो मिथ्यात्वभाव,
ज्ञानीनां वचन वडे दूर थई जाय छे;
भासे जड चैतन्य नो प्रगट स्वभाव भिन्न,
बन्ने द्रव्य निज निज रूपे स्थित थाय छे।।२।।

(पत्रांक-९०२, ३३वाँ वर्ष)



जिस ज्ञान से परभाव के मोह का उपशम अथवा क्षय न हुआ हो, वह ज्ञान 'अज्ञान' कहने योग्य है अर्थात् ज्ञान का लक्षण परभाव के प्रति उदासीन होना है। (पत्रांक-९१८, ३३वाँ वर्ष)

लौकिकभाव को छोड़कर, वाचाज्ञान छोड़कर, कल्पित विधि-निषेध छोड़कर जो जीव प्रत्यक्ष ज्ञानी की आज्ञा का आराधन कर, तथारूप उपदेश पाकर, तथारूप आत्मार्थ में प्रवृत्ति करे तो उसका अवश्य कल्याण होता है। (पत्रांक-९१८, ३३वाँ वर्ष)



लोकसंज्ञा जिसकी जिंदगी का लक्ष्यबिंदु है वह जिंदगी चाहे जैसी श्रीमंतता, सत्ता या कुटुंब परिवार आदि के योगवाली हो तो भी वह दुःख का ही हेतु है। आत्मशांति जिस जिंदगी का लक्ष्यबिंदु है वह जिंदगी चाहे तो एकाकी, निर्धन और निर्वस्त्र हो तो भी परम समाधि का स्थान है। (पत्रांक-९४९, ३४वाँ वर्ष)



धर्म में लौकिक बड़प्पन, मान, महत्त्व की इच्छा, ये धर्म के द्रोहरूप हैं।

धर्म का महत्त्व तो बहानारूप है, और स्वार्थ संबंधी मान आदि का प्रश्न मुख्य है, यह धर्मद्रोह ही है। (उपदेश नोंध-२)



सत्य शोधन में सरलता की जरूरत है। सत्य का मर्म लेने के लिये विवेकपूर्वक मर्म में उतरना चाहिये। (उपदेश नोंध-१०)



विद्वत्ता और ज्ञान इन दोनों को एक न समझें, दोनों एक नहीं हैं। विद्वत्ता हो, फिर भी ज्ञान न हो। सच्ची विद्वत्ता तो यह है कि जो आत्मार्थ के लिये हो, जिससे आत्मार्थ सिद्ध हो, आत्मत्व समझ में आये, प्राप्त किया जाये। जहाँ आत्मार्थ होता है वहाँ ज्ञान होता है, विद्वत्ता हो या न भी हो। (उपदेश नोंध-२०)



दर्शनयोग्य मुद्रा कौनसी ? जो वीतरागता सूचित करे वह।
(उपदेश नोंध-२२)



लोककल्याण हितरूप है और वह कर्तव्य है। अपनी योग्यता की न्यूनता से और जोखिमदारी न समझी जा सकने से अपकार न हो, यह भी ख्याल रखने का है। (उपदेश नोंध-२६)



स्वच्छंद से, स्वमतिकल्पना से और सद्गुरु की आज्ञा के बिना ध्यान करना यह तरंगरूप है और उपदेश, व्याख्यान करना यह अभिमानरूप है। (उपदेश नोंध-३५)



ज्ञानी की प्रत्येक आज्ञा कल्याणकारी है। इसलिये उसमें न्यूनाधिक या छोटे-बड़े की कल्पना न करें। तथा उस बात का आग्रह करके झगड़ा न करें। ज्ञानी जो कहते हैं वही कल्याण का हेतु है यों समझ में आये तो स्वच्छंद मिटता है। ये ही यथार्थ ज्ञानी है इसलिये ये जो कहते हैं तदनुसार ही करें। दूसरा कोई विकल्प न करें।
(उपदेश छाया-५)



आत्मा मुख्यतः आत्मस्वभाव से वर्तन करे वह 'अध्यात्मज्ञान'। मुख्यतः जिसमें आत्मा का वर्णन किया हो वह 'अध्यात्मशास्त्र'। भाव-अध्यात्म के बिना अक्षर (शब्द) अध्यात्मी का मोक्ष नहीं होता। जो गुण अक्षरों में कहे गये हैं वे गुण यदि आत्मा में रहें तो मोक्ष होता है। सत्पुरुष में भाव-अध्यात्म प्रगट है। सत्पुरुष की वाणी जो सुनता है वह द्रव्य-अध्यात्मी, शब्द-अध्यात्मी कहा जाता है। शब्द-अध्यात्मी अध्यात्म की बातें कहते हैं; और महा अनर्थकारक प्रवर्तन

करते हैं; इस कारण से उन्हें ज्ञानदग्ध कहें। ऐसे अध्यात्मियों को शुष्क और अज्ञानी समझे। (उपदेश छाया-६)



ज्ञानी को ओघसंज्ञा से पहचाने तो यथार्थ ज्ञान नहीं होता। भक्ति की रीति नहीं जानी। (उपदेश छाया-७)

ज्ञानीपुरुष समता से कल्याण का जो स्वरूप बताते हैं वह उपकार के लिये बताते हैं। ज्ञानीपुरुष मार्ग में भूले भटके जीव को सीधा रास्ता बताते हैं। जो ज्ञानी के मार्ग पर चलता है उसका कल्याण होता है। ज्ञानी के वियोग के बाद बहुतसा काल बीत जाये तब अंधकार हो जाने से अज्ञान की प्रवृत्ति होती है। और ज्ञानीपुरुषों के वचन समझ में नहीं आते, जिससे लोगों को उलटा भासता है। समझ में न आने से लोग गच्छ के भेद बना डालते हैं। गच्छ के भेद ज्ञानियों ने नहीं डाले। अज्ञानी मार्ग का लोप करता है। जब ज्ञानी होते हैं तब मार्ग का उद्योत करते हैं। अज्ञानी ज्ञानी का विरोध करते हैं। मार्गसन्मुख होना चाहिये, क्योंकि विरोध करने से तो मार्ग का भान ही नहीं होता।

ज्ञानीपुरुष रूढिमार्ग के बदले शुद्धमार्ग का प्ररूपण करते हों तो भी जीव को भिन्न भासता है, और वह मानता है कि यह अपना धर्म नहीं है। जो जीव कदाग्रहरहित होता है वह शुद्धमार्ग को स्वीकार करता है। जैसे व्यापार अनेक प्रकार के होते हैं परंतु लाभ एक ही प्रकार का होता है। विचारवानों का तो कल्याण का मार्ग एक ही होता है। अज्ञानमार्ग के अनंत प्रकार हैं।

(उपदेश छाया-८)



किसी पदार्थ के बिना चले नहीं ऐसा मुमुक्षु को नहीं होना

चाहिये। (उपदेश छाया-११)



निर्धन कौन ? जो धन माँगे, धन चाहे, वह निर्धन; जो न माँगे वह धनवान है। जिसे विशेष लक्ष्मी की तृष्णा, संताप और जलन है, उसे जरा भी सुख नहीं है। लोग समझते हैं कि श्रीमंत सुखी है, परंतु वस्तुतः उसे रोम-रोम में पीड़ा है। इसलिये तृष्णा कम करें।

(उपदेश छाया-११)



जीव यदि लौकिक भय से भयभीत हुआ, तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। लोग चाहे जो कहे उसकी परवा न करते हुए जिससे आत्महित हो ऐसे सदाचरण का सेवन करें। (उपदेश छाया-११)



सात नय अथवा अनंत नय हैं, वे सब एक आत्मार्थ के लिये ही हैं, और आत्मार्थ यही एक सच्चा नय हैं। नय का परमार्थ जीव से निकले तो फल होता है; अंत में उपशमभाव आये तो फल होता है; नहीं तो नय का ज्ञान जीव के लिये जालरूप हो जाता है; और वह फिर अहंकार बढ़ने का स्थान होता है। सत्पुरुष के आश्रय से जाल दूर हो जाता है। (उपदेश छाया-११)



खारी जमीन हो और उसमें वर्षा हो तो वह किस काम की ? इसी तरह जब तक ऐसी स्थिति हो कि आत्मा में उपदेश-वार्ता परिणमन न करे तब तक वह किस काम की ? जब तक उपदेशवार्ता आत्मा में परिणमन न करे तब तक उसे पुनः पुनः सुने, विचार करें, उसका पीछा न छोड़े, कायर न बनें; कायर हो तो आत्मा ऊँचा नहीं उठता। ज्ञान का अभ्यास जैसे बने वैसे बढ़ायें; अभ्यास

रखें, उसमें कुटिलता या अहंकार न रखें। (उपदेश छाया-११)



अंदर से छूटे तभी बाहर से छूटता है; अंदर से छूटे बिना बाहर से नहीं छूटता। केवल बाहर से छोड़ने से काम नहीं होता। आत्मसाधन के बिना कल्याण नहीं होता। (उपदेश छाया-११)



संसार में जिसे मोह है, स्त्री-पुत्र में ममत्व हो गया है; और जो कषाय से भरा हुआ है वह रात्रि-भोजन न करे तो भी क्या हुआ ? जब मिथ्यात्व चला जाये तो तभी उसका सच्चा फल होता है। (उपदेश छाया-१२)



यात्रा करने का हेतु एक तो यह है कि गृहवास की उपाधि से निवृत्ति ली जाये, सौ दो सौ रुपयों की मूर्च्छा कम की जाये; परदेश में देशाटन करते हुए कोई सत्पुरुष खोजने से मिल जाये तो कल्याण हो जाये। इन कारणों से यात्रा करना बताया है। (उपदेश छाया-१३)



जैनमार्ग क्या है ? राग, द्वेष और अज्ञान का नाश हो जाना। अज्ञानी साधुओं ने भोले जीवों को समझाकर उन्हें मार डालने जैसा कर दिया है। यदि प्रथम स्वयं विचार करे, कि क्या मेरे दोष कम हुए हैं ? तो फिर मालूम होगा कि जैनधर्म तो मेरे से दूर ही रहा है। जीव विपरीत समझ से अपना कल्याण भूल कर दूसरे का अकल्याण करता है। (उपदेश छाया-१३)



'हमारा धर्म' ऐसी कल्पना है। हमारा धर्म क्या ? जैसे महासागर

किसीका नहीं है, वैसे ही धर्म किसी के बाप का नहीं है। जिसमें दया, सत्य आदि हो उसका पालन करें। वे किसीके बाप के नहीं हैं। अनादिकाल के हैं; शाश्वत है। जीवने गाँठ पकड़ी है कि हमारा धर्म है, परंतु शाश्वत धर्म है, उसमें हमारा क्या ? शाश्वत मार्ग से सब मोक्ष गये हैं। (उपदेश छाया-१३)



जो जीव अपने को मुमुक्षु मानता हो, तरने का कामी मानता हो, समझदार हूँ ऐसा मानता हो, उसे देह में रोग होते समय आकुल-व्याकुलता होती हो, तो उस समय विचार करे - 'तेरी मुमुक्षुता, चतुरता कहाँ चली गयीं ?' (उपदेश छाया-१४)



जब तक देहात्मबुद्धि दूर नहीं होती तब तक सम्यक्त्व नहीं होता। जीव को सत्य कभी मिला ही नहीं, मिला होता तो मोक्ष हो जाता। भले ही साधुपन, श्रावकपन अथवा तो चाहे जो स्वीकार कर लें परंतु सत्य के बिना साधन व्यर्थ है। देहात्मबुद्धि मिटाने के लिये जो साधन बताये हैं वे, देहात्मबुद्धि मिटे तभी सच्चे समझे जाते हैं। देहात्मबुद्धि हुई है उसे मिटाने के लिये, ममत्व छोड़ने के लिये साधन करने हैं। वह न मिटे तो साधुपन, श्रावकपन, शास्त्र-श्रवण या उपदेश सब कुछ अरण्यरुदन के समान हैं।

(उपदेश छाया-१४)



ज्ञानी कहते हैं उस कुँजीरूपी ज्ञान का यदि जीव विचार करे तो अज्ञानरूपी ताला खुल जाता है; कितने ही ताले खुल जाते हैं। कुँजी हो तो ताला खुलता है; नहीं तो पत्थर मारने से तो ताला टूट जाता है। (उपदेश छाया-१४)



जीव का आंतरिक अजीर्ण दूर हो तब अमृत अच्छा लगता है; उसी तरह भ्रांतिरूप अजीर्ण दूर होनेपर कल्याण होता है, परंतु जीव को अज्ञानी गुरुओं ने भड़का रखा है, इसलिये भ्रांतिरूप अजीर्ण कैसे दूर हो ? अज्ञानी गुरु ज्ञान के बदले तप बताते हैं, तप में ज्ञान बताते हैं, यों उलटा-उलटा बताते हैं इसलिये जीव के लिये तरना बहुत कठिन है। (उपदेश छाया-१४)



बुद्धिबल से निश्चित किया हुआ सिद्धांत उससे विशेष बुद्धिबल अथवा तर्क से कदाचित् बदल सकता है; परंतु जो वस्तु अनुभवगम्य (अनुभवसिद्ध) हुई है वह त्रिकाल में बदल नहीं सकती।

(व्याख्यानसार-१ : ४)



जिनमार्ग का स्वरूप तथा उसका रहस्य क्या है उसे समझें बिना, अथवा उसका विचार किये बिना छोटी-छोटी शंकाओं के लिये बैठे रहकर आगे न बढ़ना यह उचित नहीं है। जिनमार्ग वस्तुतः देखने से तो जीव के लिये कर्मक्षय करने का उपाय है, परंतु जीव अपने मत में फँस गया है। (व्याख्यानसार-१ : २९)



जीव की समझ में आ जाये तो समझने के बाद सम्यक्त्व बहुत सुगम है; परंतु समझने के लिये जीवने आज तक सचमुच ध्यान ही नहीं दिया। जीव को सम्यक्त्व प्राप्त होनेका जब जब योग मिला है तब तब यथोचित्त ध्यान नहीं दिया, क्योंकि जीव को अनेक अंतराय हैं। कितने ही अंतराय तो प्रत्यक्ष हैं, फिर भी वे जानने में नहीं आते। यदि बतानेवाला मिल जाये तो भी अंतराय के योग से ध्यान में लेना नहीं बन पाता। कितने ही अंतराय तो अव्यक्त

हैं कि जो ध्यान में आने ही मुश्किल हैं। (व्याख्यानसार-१ : ३४)



स्वच्छंद से निवृत्ति करने से वृत्तियाँ शांत नहीं होती, परंतु उन्मत्त होती हैं, और इससे पतन का समय आ जाता है; और ज्यों ज्यों आगे जाने के बाद यदि पतन होता है तो त्यों त्यों उसे मार अधिक लगती है, अतः वह अधिक नीचे जाता है; अर्थात् पहले में जाकर पड़ता है। इतना ही नहीं परंतु उसे जोर की मार के कारण वहाँ अधिक समय तक पड़े रहना पड़ता है।

(व्याख्यानसार-१ : ५०)



ग्रंथ आदि का पढ़ना शुरू करने से पहले प्रथम मंगलाचरण करें, और उस ग्रंथ को फिर से पढ़ते हुए अथवा चाहे जिस भाग से उसका पढ़ना शुरू करने से पहले मंगलाचरण करें, ऐसी शास्त्रपद्धति हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि बाह्यवृत्ति से आत्मवृत्ति की ओर अभिमुख होना है, अतः वैसा करने के लिये पहले शांति लाने की जरूरत है, और तदनुसार प्रथम मंगलाचरण करने से शांति आती है। पढ़ने का जो अनुक्रम हो उसे यथासंभव कभी नहीं तोड़ना चाहिये। इसमें ज्ञानी का दृष्टांत लेने की जरूरत नहीं है। (व्याख्यानसार-१ : ६८)



श्रेयस्कर निजस्वरूप का ज्ञान जब तक प्रगट नहीं किया, तब तक परद्रव्य का चाहे जितना ज्ञान प्राप्त करे तो भी वह किसी काम का नहीं है; इसलिये उत्तम मार्ग यह है कि दूसरी सब बातें छोड़कर अपने आत्मा को पहचानने का प्रयत्न करे।

(व्याख्यानसार-१ : ९३)



यदि अमुक नय से कहा गया तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दूसरे नय से प्रतीत होनेवाले धर्म का अस्तित्व नहीं है।

(व्याख्यानसार-१ : १२५)



यह (जिनमार्ग) मार्ग आत्मगुणरोधक नहीं है परंतु बोधक है, अर्थात् आत्मगुण को प्रगट करता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। यह बात परोक्ष नहीं परंतु प्रत्यक्ष है। प्रतीति करने के अभिलाषी को पुरुषार्थ करने से सुप्रतीत होकर प्रत्यक्ष अनुभवगम्य हो जाता है।

(व्याख्यानसार-१ : १३०)



जब तक अनुभवसिद्ध न हो तब तक सुप्रतीति रखने की जरूरत है, और सुप्रतीति से क्रमशः अनुभवसिद्ध होता है।

(व्याख्यानसार-१ : १३६)



विषय क्षीण नहीं हुए, फिर भी जो जीव अपने में वर्तमान में गुण मान बैठे हैं, उन जीवों जैसी भ्रांति न करते हुए उन विषयों का क्षय करने की ओर ध्यान दें। (व्याख्यानसार-२ : ४-३२)



कर्म से सुखदुःख सहन करते हुए भी परिग्रह के उपार्जन तथा उसके रक्षण के लिये सब प्रयत्न करते हैं। सब सुख को चाहते हैं, परंतु वे परतंत्र है। परतंत्रता प्रशंसापात्र नहीं है, वह दुर्गति का हेतु है। अतः सच्चे सुख के इच्छुक के लिये मोक्षमार्ग का वर्णन किया गया है। (व्याख्यानसार-२ : ५-३)



यथार्थ स्वरूप समझे बिना अथवा जो स्वयं कहता है वह परमार्थ

से यथार्थ है या नहीं, यह जाने बिना, समझे बिना जो वक्ता होता है वह अनंत संसार बढ़ाता है। इसलिये जब तक यह समझने की शक्ति न हो तब तक मौन रहना अच्छा है।

(व्याख्यानसार-२ : १०-१५)



जब तक मृषा और परस्त्री का त्याग न किया जाये, तब तक सब क्रियाएँ निष्फल हैं; तब तक आत्मा में छलकपट होने से धर्म परिणमित नहीं होता। (व्याख्यानसार-२ : १६-१)



श्रवण पवन की लहर के समान है। वह आता है और चला जाता है।

मनन करने से छाप पड़ती है, और निदिध्यासन करने से ग्रहण होता है।

अधिक श्रवण करने से मननशक्ति मंद होती हुई देखने में आती है। (व्याख्यानसार-२ : ३०-१०, ११, १२)



आत्मा प्रत्येक समय उपयोगसहित होनेपर भी अवकाश की कमी अथवा काम के बोझ के कारण उसे आत्मसंबंधी विचार करने का समय नहीं मिल सकता यों कहना प्राकृतजन्य 'लौकिक' वचन है। यदि खाने, पीने, सोने इत्यादि का समय मिला और काम किया वह भी आत्मा के उपयोग के बिना नहीं हुआ; तो फिर खास जिस सुख की आवश्यकता है, और जो मनुष्य जन्म का कर्तव्य है उसके लिये समय नहीं मिला, इस वचन को ज्ञानी कभी भी सच्चा नहीं मान सकते। इसका अर्थ इतना ही है कि दूसरे इंद्रिय आदि सुख के काम तो जरूरी लगे हैं, और उसके बिना दुःखी होने के डर की कल्पना है। (व्याख्यानसार-२ : ३०-१४)

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि कोई मनुष्य कर्ज लेने आये तो उसे कर्ज चुका देने से सिर का बोझ कम हो जाने से कैसा हर्ष होता है ? उसी तरह पुद्गल-द्रव्यरूप शुभाशुभ कर्ज जिस काल में उदय में आये उस काल में उसका सम्यक् प्रकार में वेदन कर चुका देने से निर्जरा होती है और नया कर्ज नहीं होता। इसलिये ज्ञानीपुरुष को कर्मरूपी कर्जमें से मुक्त होने के लिये हर्ष-विह्वलता से तैयार रहना चाहिये; क्योंकि उसे दिये बिना छुटकारा होनेवाला नहीं है। (व्याख्यानसार-२ : ३०-२१)



आत्मिक सुख के विचार का काम किये बिना अनंतकाल दुःख भोगना पड़ेगा और अनंत संसारभ्रमण करना पड़ेगा, यह बात जरूरी नहीं लगती। मतलब यह कि इस चैतन्य ने कृत्रिम मान रखा है, सच्चा नहीं माना। (व्याख्यानसार-२ : ३०-१४)



जो पुरुष सद्गुरु की उपासना के बिना अपनी कल्पना से आत्मस्वरूप का निर्धार करे वह मात्र अपने स्वच्छंद के उदय का वेदन करता है ऐसा विचार करना योग्य है।

जो जीव सत्पुरुष के गुण का विचार न करे, और अपनी कल्पना के आश्रय से वर्तन करे, वह जीव सहजमात्र में भववृद्धि उत्पन्न करता हैं, क्योंकि अमर होने के लिये जहर पीता है।

(संस्मरणपोथी-१ : ३७)



भावकर्म से विमुख हो तो निजभाव परिणामी हो।

सम्यग्दर्शन के बिना वस्तुतः जीव भावकर्म से विमुख नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन होने का मुख्य हेतु जिनवचन से तत्त्वार्थ प्रतीति

होना है। (संस्मरणपोथी-३ : ६)



सर्व चारित्र वशीभूत करने के लिये, सर्व प्रमाद दूर करने के लिये, आत्मा में अखंड वृत्ति रहने के लिये, मोक्षसंबंधी सर्व प्रकार के साधनों की जय करने के लिये 'ब्रह्मचर्य' अद्भुत अनुपम सहायकारी है, अथवा मूलभूत है। (संस्मरणपोथी-३ : १९)



सर्वज्ञोपदिष्ट आत्मा को सद्गुरु की कृपा से जानकर निरंतर उसके ध्यान के लिये विचरना, संयम और तपपूर्वक।

(संस्मरणपोथी-३ : २२)



जैसे निःस्पृहता बलवान, वैसे ध्यान बलवान हो सकता है, कार्य बलवान हो सकता है। (संस्मरणपोथी-३ : २६)



[‘द्रव्यदृष्टिप्रकाश’ भाग-३में से उद्धृत रत्न]

प्रश्न :- अनुभव होनेके बाद परिणाम में मर्यादा आ जाती है न ? विवेक हो जाता है न ?

उत्तर :- विवेक की बात एकबाजू रखो; एकदफ़ा विवेक को छोड़ दो ! (- पर्याय की सावधानी छोड़ दो !) परिणाम मात्र ही ‘मैं’ नहीं; ‘मैं’ तो अविचलित खूँटा हूँ; मेरे में क्षणिक अस्तित्व है ही नहीं। विवेक के बहाने भी जीव परिणाम में एकत्व करते हैं। ६८.



विचार-मंथन भी थक जायें, शून्य हो जायें; तब अनुभव होता है। मन्थन भी तो आकुलता है। एकदम तीव्र धगश से (जोर से) अन्दर में उतर जाना चाहिए। ७२.



बस, एक ही बात है कि ‘मैं’ त्रिकाली हूँ - ऐसे जमे रहना चाहिए। पर्याय होनेवाली हो सो योग्यतानुसार हो जाती है, ‘मैं’ उसमें नहीं जाता। क्षयोपशम हो, न हो; याद रहे, न रहे; परंतु असंख्य प्रदेश में, प्रदेश-प्रदेश में व्यापक हो जाना चाहिए। ८१.



‘कुछ करे नहीं तो गमे नहीं’ ऐसी आदत (कर्ताबुद्धि) हो गयी

है। लेकिन 'कुछ करे तो गमे नहीं' ऐसा होना चाहिए। ८४.



जहाँ तक अंदर में (आत्मा में) डुबकी नहीं मारता, वहाँ तक प्रयत्न चालू रखना चाहिए। ८६.



असल में बात तो यह है कि सुनने में जो महात्म्य आता है - वह नहीं, किन्तु अन्दर से सहजरूप से (स्व का) महात्म्य आना चाहिए। (बाहर में) तीव्र थकावट हो तो महात्म्य अन्दर से ही आता है। १०२.



श्रवण-वांचन आदि तो सब ऊपर-ऊपर की बातें हैं; अंदरमें से सहजरूप (भाव) आना चाहिए। १०४.



प्रश्न :- वर्तमान ज्ञानवेदन खयाल में आता है वैसे त्रिकाली सत् खयाल में क्यों नहीं आता है ? उघाड़ में तो युक्ति आदि से आता है लेकिन अंदर से खयाल में क्यों नहीं आता ?

उत्तर :- जो उघाड़ में न्याय से खयाल में आया, तो (वो) खयालवाली ज्ञानपर्याय भी तो कोई आधार पर खड़ी है; - तो वह आधारवाली वस्तु क्या है ? - ऐसे देखकर, उस आधारवाली शक्ति में ही थँम जाना-प्रसर जाना, वो ही सत् स्वभाव है। (त्रिकाली स्वरूपमात्र खयाल में लेना है - ऐसा अभिप्राय नहीं रखकरके, अंतर में त्रिकाली आधारभूत शक्ति को स्वयं के रूप में देखने का प्रयास करना चाहिए। जिससे सहज स्थिरता होगी।) १२५.



प्रश्न :- पर्याय से छूटें कैसे ?

उत्तर :- पर्याय से तो छूटे हुए ही हैं। 'त्रिकाली' तो पर्याय में आता ही नहीं। लेकिन पर्याय में एकता कर रखी है - वह एकता, त्रिकाली में थापने की है। १२७.



परिणाम में बैठकर (त्रिकाली) वस्तु को देखने से वस्तु भिन्न दिखती है। इसलिए परिणाम से भिन्न होनेके लिए वस्तु में बैठकर देखना है, तभी वस्तु में अपनापन (एकत्व) होनेसे पर्याय का कार्य भिन्न दिखने लगेगा; और (- ऐसी) भिन्नता दिखने से पर्याय का नाश होते हुए भी (द्रव्य में) अपनापन तो त्रिकाल ही रहता है; तभी तो पर्याय के नाश होनेसे आकुलता नहीं होगी; और इधर में (त्रिकाली में) बैठने से सुख-शांति बढ़ेगी। १३३.



असलमें बात यह है कि सबकी सब धारणा तो (अज्ञानी भी) सच्ची कर लेता है, परंतु पर्याय में बैठकर (अहंभाव रखकर) द्रव्य को देखता है, तो द्रव्य जुदा का जुदा पड़ा रहता है। पर्याय में बैठकर द्रव्य को नहीं देखना है, किन्तु द्रव्य में बैठकर द्रव्य को देखना है, तो द्रव्य में अपनापना प्रसर जाता है (- अभेदता होती है।) पर्याय में बैठने से (- एकता करने से) द्रव्य तो दूर ही पड़ा रहता है। १३८.



पहले विकल्पात्मकता में तो यह निर्णय कर लो कि, परिणाम की अपेक्षा से इधर (अंतर में) ही जमने का है; दूसरा कुछ भी करने का नहीं है। - ऐसे विकल्पात्मक निर्णय का भी अवलंबन नहीं होना चाहिए। और 'मैं तो अपरिणामी हूँ, परिणाम में जाता ही नहीं' - ऐसा अभ्यास होनेपर दृष्टि जम जायेगी। (विकल्पात्मक

निर्णय सही होते हुए भी निर्णयरूप परिणाम की मुख्यता नहीं होनी चाहिए; परंतु अपरिणामी निजस्वरूप के प्रति पुरुषार्थ तीव्र होना चाहिए। निर्णय या समझ यथार्थ होनेसे ऐसे यथार्थ परिणाम पर वजन रह जाता है तो वह भी ध्रुव स्वभाव के अवलंबन लेने हेतु प्रतिकूल है।) १६०.

चाहे जैसी बात व कितनी ही बार कहने में आवे लेकिन 'त्रिकाली की अधिकता कभी नहीं छूटनी चाहिए'। कथन चाहे जैसा आवे, परन्तु यह बात कायम रख करके ही अन्य सब बातें हैं - त्रिकाली की अधिकता कभी नहीं छूटनी चाहिए। १६३.



कोई तो धारणा कर लेते हैं; कोई धारणा करके रटन करते हैं; लेकिन भाई ! धारणा करके क्या तेरे को किसीको दिखाना है कि 'मैं जानकार हूँ' ?

प्रश्न :- लेकिन अपने स्वरूप की प्राप्ति न हो तब तक निर्णय के लिए तो धारणा चाहिए न !

उत्तर :- धारणा सहज होती है। 'मैं धारणा कर लूँ' - यह तो बोझा उठाना है। धारणा के ऊपर तो वजन ही नहीं आना चाहिए। धारणा होनी तो चाहिए न ! - ऐसा वजन नहीं होना चाहिए; सहज हो तो हो। (स्वरूप की प्राप्ति के लिए विधि-विषयक जानकारी की धारणा होती है, फिर भी ऐसी सही धारणापर वजन जानेवाले के अभिप्राय में पर्याय का आश्रय करने का अभिप्राय जो अनादि से है वह चालू रह जाता है और वह अंतर्मुखता होनेमें बाधक कारण बन जाता है।) १७७.



प्रश्न :- चिंतन करना (चाहिए) क्या ?

उत्तर :- चिंतन भी भट्टी-सा लगना चाहिए; वह भी दुःखभाव लगे तो वहाँसे हट सकेंगे, नहीं तो वहाँसे क्यों खिसकेंगे ? मार्ग में आता है तो ठीक; किन्तु उसको दुःखभाव जानना, उसमें एकत्व नहीं करना। चिंतन भी चिंता है, आकुलता है। 'चिंतन जहाँसे उठता है.... उस भूमिमें जमे रहो।' १७८.



प्रश्न :- धारणा के बिना अनुभव हो सकता है क्या ?

उत्तर :- धारणा नहीं होवे और अनुभव हो जाये, यह सवाल ही यहाँ नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि धारणा होनेपर भी (बिना पुरुषार्थ) अनुभव नहीं होता। धारणा में 'चैतन्यमूर्ति हूँ' - ऐसा टाँक दो, और इसी स्थल पर जम जाओ, तब अनुभव होता है। १८५.



यह बात समझ में आने पर 'करूँ.... करूँ' का बोझा तो हल्का हो जाए; परंतु इस त्रिकाली-अपरिणामीभाव का अनुभव होना - यही खास बात है; यह अनुभव करो। २०१.



अपेक्षा-ज्ञान बराबर होना चाहिए, नहीं तो खतियाने में फेर हो जाता है। किस अपेक्षा से, किस बात को कितनी मर्यादा तक कहा है, उसका खयाल होना ज़रूरी है। २१०.



झटपट मुक्ति चाहिए !.... तो बस, यहाँ (त्रिकाली में) ही बिराजमान हो जाओ। २१८.



प्रश्न :- (हमको आत्मा में) स्थिरता क्यों नहीं होती ?

उत्तर :- क्षणिक (अस्थिर) परिणाम में अपनापन है, स्थिर तत्त्व को पकड़ा नहीं है, तब स्थिरता कहाँसे आए ? 'में अपरिणामी सदैव स्थिर ही हूँ' - ऐसे त्रिकाली -स्थिर तत्त्व में अपनापन आते ही परिणाम में स्थिरता सहज आ जाएगी, स्थिरता बढ़ेगी और पूर्णता भी हो जायेगी। पहले 'में त्रिकाली स्थिर तत्त्व हूँ' - ऐसी दृष्टि होनी चाहिए। २२१.



प्रश्न :- वस्तु पकड़ने में नहीं आती, तो कहाँ अटकाव हो जाता है ? क्या महिमा नहीं आती है ?

उत्तर :- एक समय के परिणाम में अपनापन रहता है - बस ! यही भूल है। महिमा तो आती है, किन्तु ऊपर-ऊपर से। यदि वास्तविक महिमा आजाए तब तो छोड़े ही नहीं। वस्तु का आश्रय (आधार) पकड़ना चाहिए, उसे नहीं पकड़ता है। २२७.



जैसे भूंगली को पकड़े हुए शुक को ऐसा लगता है कि 'में उलटा हूँ, यदि सुलटा होता तो फौरन उड़ जाता'; ऐसे अज्ञानी को ऐसा लगता है कि 'में विकारी हूँ, इसलिए आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकूँ ?' अरे भाई ! सुलटे-उलटे की बात ही नहीं है; परिणाम से छूटा तो ध्रुवपर ही आएगा। (-पर्यायबुद्धि छूटनेपर आत्मा में ही आत्मबुद्धि होगी)। भूंगली को शुक छोड़ता...तो उड़ ही जाता, क्योंकि उड़ना उसका स्वभाव है। - ऐसे परिणाम से खिसके तो त्रिकालीदल में ही आएगा। २२९



वस्तु साक्षात् मौजूद पड़ी है, मात्र कल्पना नहीं करना लेकिन उस रूप हो जाना - तन्मय होकर असंख्य प्रदेश में व्याप्त हो

जाना। जब वस्तु साक्षात् है तो फिर मात्र कल्पना क्यों करना ? - उस रूप परिणम जाना ! (स्वरूप के प्रत्यक्ष अनुभव काल में ‘आत्मप्रत्यक्षता’ के अवलंबन से उत्पन्न पुरुषार्थ का यह प्रकट चितार है।) २३२.



‘मैं निरावलम्बी तत्त्व हूँ- इसकी तो पूरी मुख्यता होनी चाहिए; और दीनताका (परावलम्बीपनेका) पूरा-पूरा दुःख मालूम होना चाहिये। २३६.

सुननेके कालमें भी ‘मैं निरावलम्बी तत्त्व हूँ’ - यहाँसे शुरू करना चाहिए, फिर सुननेका भाव आएगा किन्तु उसकी मुख्यता नहीं होगी। २४१.



सिर्फ बैठक ही बदलना है। परिणामपर बैठे हो तो वहाँसे उठकर अपरिणामीपर बैठ जाओ...बस, इतनी-सी बात है। २४८.



(मात्र) विचार करनेसे वस्तुका पत्ता नहीं लगता (आत्माका अनुभव नहीं होता) वस्तु तो प्रत्यक्ष मौजूद है, बस ! इसीमें प्रसरकर बैठ जाना, बिराजमान हो जाना। २५४.



प्रश्न :- परिणाममेंसे एकत्व छोड़ देना, यही आपका कहना है ?

उत्तर :- बस...यही कहना है। परिणाममेंसे एकत्व छोड़ दो ! लेकिन यह एकत्व छूटे कैसे ? - नित्य स्वभावमें एकत्व करे तब। निश्चय नित्य स्वभावमें दृष्टि जमाकर, परिणाम मात्रसे एकत्व उठा लेना। २५६.



प्रश्न :- वृत्ति उठती रहती है, वह कैसे रुक जाए ?

उत्तर :- एक समयकी वृत्तिको उसीमें रहने दो। 'मैं' त्रिकाली तो एक समयकी वृत्तिमें जाता ही नहीं। त्रिकालीमें अपनापन होते ही वृत्ति भी खिँचीज जायेगी (खिँची चली आएगी)। २५७.



पर्याय (त्रिकाली) द्रव्यसे सर्वथा ही भिन्न है; प्रमाणमें अभिन्नता भी कहनेमें आती है, लेकिन प्रमाण निश्चयनको झूठा करके नहीं कहता है; निश्चयसे तो पर्याय सर्वथा भिन्न है। प्रदेश एक होनेसे प्रमाण उनको अभिन्न कहता है; प्रमाण अभिन्न ही कहता है-ऐसा नहीं है; भिन्न-अभिन्न दोनों कहता है। परन्तु 'एकान्त भिन्न है'- ऐसा जोर दिए बिना, पर्यायमेंसे दृष्टि उठेगी नहीं। "अनेकांत पण सम्यक् एकान्त एवा निज पदनी प्राप्ति सिवाय अन्य हेतुअे उपकारी नथी"- यही सत्य है। २६५.



प्रश्न :- परिणाम कैसे सुधरें ?

उत्तर :- नित्य अपरिणामी ध्रुवधाममें दृष्टि बिराजमान करनेसे परिणाम सुधरने लगेंगे। २६७.



आखिर तो सदा एकान्त (अकेला) ही रहना है. तो शुरुसे ही (एकान्तका) दो-चार-पाँच घण्टोंका अभ्यास चाहिए। २६८.



यह सब (तत्त्व की) बात विकल्पात्मकरूप से जान लेने से शान्ति नहीं मान लेना, अभेद-दृष्टि प्रकट करना। २७२.



अपने सहज सुखकी पिपासा होनी चाहिए; जितनी तीव्र

पिपासा...उतना जल्दी काम होता है। २९२.



अपने तो अपना समझना। दूसका कैसा समझता है, कैसा नहीं, इसका क्या प्रयोजन ? दूसरे में रुकेगा तो अपना काल व्यर्थ चला जाएगा। ३०२



प्रश्न :- स्व-पर की प्रतीति करने का तो शास्त्र में आता है न ?

उत्तर :- अरे ! स्व की प्रतीति करो। पर की प्रतीति (पर में नहीं, किन्तु) उसमें आ जाएगी। अपनी खुद की प्रतीति करो।

३२७.



प्रश्न :- पक्ष इधर (स्वरूप में) आये बिना कैसे करें ?

उत्तर :- अरे भाई ! विकल्पात्मकभाव में (निर्णय में) तो यह पक्ष करो; पीछे इधर (स्वरूप में) जम जाओ। ३३०.



परिणामका विवेक तो, जो अनंत सुखी होना चाहते हैं उनको सहज होना चाहिए। ३५७.



'पुरुषार्थ करूँ' 'ज्ञान करूँ'- यह अभिप्राय भी हटा दें। 'तू वर्तमानमें ही पुरुषार्थकी खान है'। वर्तमान परिणाम ऊपरकी दृष्टि झूठी है। ३५८.



इतनी-सी बात है - जो उपयोग पर में झुकता है, उसको स्व में झुकाने का है। ३७७.



प्रश्न :- घरवालों की हरएक प्रकार की प्रतिकूलता होनेसे अपना कार्य कैसे करूँ ?

उत्तर :- अपने अंदर में बैठकर अपना काम करो ! अपना यह कार्य अंदर में बैठकर करने में न घरवाले जानेंगे और न बाहरवाले जानेंगे। अपन क्या करते हैं और कहाँ है, यह भी कोई नहीं जानेगा। - ऐसे अंदर में अपना काम हो सकता है। ३८६.



बंधन रहित स्वभाव के लिए वांचन-मनन घूँटण करूँ तो पकड़ में आवे, ऐसी बात ही नहीं है। 'वह तो मैं त्रिकाली ही हूँ' - ऐसे वर्तमान में ही उसमें थँभ जावो। (विकल्पातीत स्वभाव के विकल्प से कभी अनुभव नहीं होता है; परंतु निर्विकल्प स्वभाव की प्रत्यक्षता को प्रत्यक्ष तौरसे आविर्भूत करने से, परोक्षता विलीन होकर अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अनुभव होता है।) ३९४.



(चर्चा सुननेवालों को लक्ष्य में लेकर :) सुनने की रुचि तो सभी की ठीक है; परंतु उससे अनंतगुनी रुचि अंदर की होनी चाहिए। (वास्तव में स्वरूप की रुचि का ऐसा स्वरूप है कि इसके आगे तत्त्व सुनने की रुचि कुछ नहीं है। अतः तत्त्व सुनने-पढ़ने आदि की रुचि में मुमुक्षु जीव को ठीकपना नहीं लगना चाहिए। 'अंतर्मुख होने में बहुत बाकी है' - ऐसा खयाल रहना चाहिए।) ४१३.



असल में बलवान वस्तु का बल आना चाहिए। ४१६.



'खुद ही से काम होगा' यह तो पहले ही पक्का हो जाना

चाहिए। खुद का बल आए बिना तो (अन्य) कोई आधार (उपाय) नहीं है। ४२६.



'पहले मैं सब समझ लूँ (धारणा कर लूँ) पीछे प्रयास करूँगा' - ऐसे तो कार्य होगा ही नहीं। (अंतर -) प्रयास तो सुनते ही चालू हो जाना चाहिए। फिर थोड़ी रुकावट आवे तो उसे दूर करने के लिए सुनने-समझने का भाव आता है; परंतु 'मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ' - वहाँ चोंटे (वलगे) रहकर ही सब प्रयास होना चाहिए - वहाँ से तो छूटना ही नहीं चाहिए। ४२८.



परिणाम में बैठे हो तो द्रव्य में बैठ जाना है। परिणाम तो कम्पायमान है; द्रव्य निष्कम्प है। काँपनेवाले परिणाम के आश्रय से कम्पित ही रहोगे; निष्कम्प द्रव्य के आश्रय से निष्कम्पता होगी।

४३०.



संग करने का भाव आवे, तब भी 'संग नहीं करना है' -ऐसा भाव कायम (मुख्य) रख कर ही संग का भाव होना चाहिए। ('असंग ही हूँ' ऐसी दृष्टि रखकर अथवा ऐसी दृष्टि करने हेतु सत्संग की भावना रहनी चाहिए।) ४३१.



असल में द्रव्य का (भावभासनपूर्वक) पक्का (यथार्थ) पक्ष आ जाना चाहिए। अनादि का पर्याय-पक्ष छूट जाना चाहिए। ४३८.



प्रश्न :- अंदर में तो कुछ दिखता नहीं और स्थिरता होती नहीं, इसलिए सुनने का भाव (अभिप्राय) रहता है। - क्या करें ?

उत्तर :- इसमें तो व्यवहार श्रद्धा भी नहीं आई। 'सुनने का अभिप्राय ही नहीं होना चाहिए।' (सुनने का राग होना और अभिप्राय होना - इन दोनों में बहुत फ़र्क है।) **सुनते ही इधर का** (अंतर्मुखता का) **प्रयास चालू हो जाना चाहिए।** (तत्त्वश्रवण के संबंध में ऐसा अभिप्राय रह जाना कि श्रवण करते-करते आत्मलाभ हो जाएगा तो वह साधनविषयक बुद्धिपूर्वक की भूल है जिससे गृहीतमिथ्यात्व होता है। जिसका सुनते ही प्रयास चालू होता है, ऐसे वर्तमान पात्र जीव की वैसी भूल नहीं होती। यद्यपि सुनने का राग छद्मस्थअवस्था तक संभव है तथापि यथार्थता में किसी भी राग का अभिप्राय नहीं होता। राग व राग के अभिप्राय में दिन-रात जितना अंतर है।) ४३९.



सोचते रहनेसे तो जागृति नहीं होती, ग्रहण करनेसे ही जागृति होती है। सोचनेमें तो वस्तु परोक्ष रह जाती है और ग्रहण करनेमें वस्तु प्रत्यक्ष होती है। सुनते रहने और सोचते रहनेसे तो वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती। (स्वरूप) ग्रहण करनेका (- अपने अस्तित्वको रुचिपूर्वक वेदन करनेका) ही अभ्यास शुरू होना चाहिए। (मुमुक्षुजीवको सामान्य भावनासे तत्त्वविचार चलता है। सोचना-विचारना तो बहिर्मुख भाव हैं, इसमें वस्तु परोक्ष रहती है; और ऐसेमें स्वयंके महान् अस्तित्वकी जागृति नहीं होती। किन्तु स्वरूपकी अनन्य रुचिसे 'ज्ञानमात्र' के वेदनसे प्रत्यक्ष तौरसे अस्तित्व ग्रहणका प्रयास होना चाहिए-ऐसे प्रयाससे अंतर्मुखता प्राप्त होती है।) ४५४.



प्रश्न : नज़रमें तो पर पदार्थ आते हैं, स्व वस्तु नज़रमें नहीं आती, तो क्या करना ?

उत्तर : जिस क्षेत्रमें नज़रका परिणमन हो रहा है, उसी आखे के आखे (पूरे के पूरे) क्षेत्रमें वस्तु पड़ी है। जहाँसे नज़र उठती है...वही वस्तु है। अतः नज़र जहाँसे उठती है...वहीं वस्तुको ढूँढ़ लो ! ४५८.



जिस चीज़ को पकड़नी है उसको पहले पूरी समझ लेनी (यथार्थ निर्णय कर लेना) चाहिए। ४६४.

ध्रुवतत्त्व को समझने के लिए पर्याय के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है, इसलिए पर्याय से सभी बातें कहने में (समझाने में) आती हैं। ४६६.



पहले तो असली (निरपेक्ष) बात नक्की कर लो, फिर अपेक्षित बातों का खतियान कर लो। एक ओर, परद्रव्य का चिंतन राग का कारण बतावें; दूसरी ओर, केवली के द्रव्य-गुण-पर्याय का चिंतन मोहक्षय का कारण बतावें; - सो परद्रव्य का चिंतन राग का कारण है, यह तो ‘सिद्धांत’ है; और मोहक्षय का कारण तो ‘निमित्त की अपेक्षा’ से बताया है। ऐसे सभी जगह ‘निरपेक्ष’ बात निश्चितकर, फिर ‘अपेक्षित’ बात को समझ लेना है। ४७३.



असल में सुनने आदि का रस कम हो जाना चाहिए, - वह कम कब होगा ? कि - जब अंदर का रस बढ़ता जावे तभी उधर में रस कम होता जाता है। (इसलिए) शुरु से ही उधर में (सुनने आदि में) ज़ोर नहीं आना चाहिए। (मुमुक्षु जीव को शुभभाव में रस आता है, वह भी विभावरस ही है। सिद्धांत तो यह

है कि कहीं भी (शुभाशुभभाव में) विभावरस तीव्र नहीं होना चाहिए। अतः ऐसी समझपूर्वक अत्यंत सावधानी रहने से, उक्त प्रतिबंधक रस तीव्र न होनेसे, अंतरस्वभावरस उत्पन्न होनेका अवकाश बनता है; और वैसे अवकाश से अंतरस्वभाव रस आविर्भूत होनेकी प्रक्रिया संभवित है।) ४८९.



प्रश्न : यह सभी बात सत्य है, लेकिन विकल्प टूटता नहीं है ?

उत्तर : विकल्पसे क्यों डरते हो ? इसको भी इसीकी सत्ता में रहने दो; और तुम तुमारी त्रिकाली सत्ता में रहो। विकल्प को तोड़ने-मोड़ने जाओगे तो तुमारी ध्रुवसत्ता का (श्रद्धा में) नाश होगा; और फिर भी ये विकल्प तो टूटेंगे नहीं। ४९१.



स्वच्छंदसे डरो मत ! (स्वरूप के अभान में) अभी तक स्वच्छन्द ही तो चलता आया है। अब तो 'सहज स्वच्छन्द (-स्व में प्रवृत्तिरूप) दशा' प्रकट करो ! विवेक अपने आप आ जाएगा। ४९५.



शास्त्र इधरसे (आत्मामेसे) निकलते हैं तो इधरसे निकली सब बातें शास्त्रसे मिल जाती है। शास्त्र देखकर इधरका मिलान नहीं करना है, किन्तु इधरसे निकली बात शास्त्रसे मिलान कर लेना। (शास्त्र देखकर स्वयंकी समझको मिलान करनेकी पद्धति उचित नहीं है क्योंकि इस पद्धतिसे स्वयंके अभिप्राय अनुसार शास्त्रवचनका अर्थघटन (समझ) होनेकी संभावना है; और इसमें जो भूल रही हो तो वह शास्त्राधारसे और दृढ़ हो जाती है; साथ ही ऐसी पद्धतिसे ज्ञानीके वचन भी शास्त्र - आधारसे स्वीकार करनेका अभिप्राय रह

जाता है जिससे प्रत्यक्ष सतपुरुषके वचनपर प्रीति / भक्ति / विश्वास नहीं रहता। अतएव समझी हुई बातको, अनुभव-पद्धतिसे समझना चाहिए; और वैसे अनुभवको शास्त्रसे मिलान करना ही सही पद्धति है; अर्थात् उपादानकी मुख्यातावाली पद्धति ही सही पद्धति है। ५०२.



निर्विकल्पता पर वजन नहीं देना [पर्याय पर वजन नहीं देना] - यह मेरेसे [ध्रुव पदसे] बड़ी थोड़े-ही है ? ५०३.

प्रश्न : गुरुदेवश्रीकी बात भी अच्छी लगती है और बाहरकी अनुकूलता भी अच्छी लगती है ; जब कि गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि "एक म्यानमें दो तलवारें नहीं रह सकती " ?

उत्तर : एक शुभ है, एक अशुभ है - दोनों जगहोंसे हटकर, तीसरी [शुभाशुभ रहित] जगह आ जावो। ५१७.



पहले तो धारणा बराबर होनी चाहिए; लेकिन धारणा अन्तरमें उतरे तभी सम्यग्ज्ञान होता है। धाराणामें भी लक्ष्य तो इधरका (आत्माका) होना चाहिए। ५२१.



उल्लास में उल्लास आ जावे, वह योग्य नहीं। (राग होना वह उतना अपराध नहीं है जितना कि राग का राग होना। क्योंकि राग का राग अनन्तानुबन्धीका कषाय है।) ५२६.



सुनना, पढ़ना, चर्चा करना - यह सभी ऊपर - ऊपरकी बातें हैं; असलमें तो अन्दरमें जम जाना चाहिए, स्वरूपमें ऊँड़े उतर जाना चाहिए। ५३०.



प्रश्न : शुरुआतवालेको अनुभवका कैसे प्रयत्न करना ?

उत्तर : 'मैं परिणाम मात्र नहीं हूँ,' 'त्रिकाली ध्रुवपनेमें अपनापन स्थापना' - यही एक उपाय है। ५३२.



एक ही 'मास्टर की' (Master Key) है; सब बातोंका सब शास्त्रोंका एक ही सार है - 'त्रिकालीस्वभावमें अपनापन जोड़ देना है'। ५३३.



इसका (ध्रुव - दृष्टिका) बल आए बिना, (जीव) दूसरी जगह अटकेगा ही। ५३५.



सुननेमें भी एकान्त उल्लास नहीं होना चाहिए, दीनता लगनी चाहिए, खेद होना चाहिए। (मुमुक्षुकी भूमिकामें जिसको स्वरूपप्राप्तिकी तीव्र लगन है उसे स्वरूपकी अप्राप्तिमें, सुनने आदिके भावमें भी असंतोष / खेद वर्तता है।) ५५१.



'अपने' तो निर्विकल्पता भी करनी नहीं है; ध्रुवस्थलमें बैठनेसे निर्विकल्पता भी सहज होती है। पहले अभिप्राय ठीक करना चाहिए, फिर परिणाम भी ठीक होने लगते हैं। ५५९.



नित्य वस्तु का ही भरोसा ठीक करने योग्य है। ५६४.



'मैं त्रिकाली तत्त्व हूँ,' इसमें अहम्पना करना - वही बारह अंग-चौदह पूर्वका सार है; अंगपूर्वमें यही कहना है। ५७१.



प्रश्न :- अपरिणामी का अर्थ क्या ? - आत्मा, पर्याय बिना

का सर्वथा कुटस्थ है ?

उत्तर :- अपरिणामी अर्थात् द्रव्य में पर्याय सर्वथा नहीं है, ऐसा नहीं है। लेकिन पलटनशील - परिणमन स्वभावी पर्याय को गौण करके, ‘मैं वर्तमान में परिपूर्ण हूँ, अभेद हूँ’ - ऐसे ध्रुवद्रव्य और ध्रुवपर्याय को (- जिसको कि, “नियमसार” में कारणशुद्धपर्याय कहा है, उसको) लक्ष्यगत् करने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

द्रव्य पलटता नहीं है, पर्याय पलटती रहती है। यदि द्रव्य परिणमन को प्राप्त हो जाए तो पलटते हुए द्रव्य के आश्रय से स्थिरता हो नहीं सकती; और स्थिरता बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए जो पलटती ही रहती है उसका लक्ष्य छोड़; और ध्रुव-अपरिणामी चैतन्यतत्त्व जो एक ही सारभूत है, उसका लक्ष्य कर !

पर्याय परिणमती है, उसका परिणमन होने दे ! उसके सन्मुख मत देख ! मगर उसी समय ‘तु’ परिपूर्ण-अपरिणामी-ध्रुवतत्त्व है, उसको देख !

अहो ! ‘मैं’ वर्तमान में ही परिपूर्ण-ध्रुव-अपरिणामी तत्त्व हूँ ! - यह बात जगत् के जीवों को नहीं जँचती है। और प्रमाण के लोभ में - आत्मा को यदि अपरिणामी मानेंगे तो प्रमाणज्ञान नहीं होगा और एकांत हो जाएगा, ऐसी आड़ लगाकर - पर्याय का लक्ष्य नहीं छोड़ना चाहते हैं। इस ही कारण से वे अपरिणामी चैतन्यतत्त्व को प्राप्त नहीं होते हैं। ५८०.



पर्यायको उसको स्वकालमें रहने दो, वह उस कालका सत् है; उसमें उपयोग मत रोकना। ५९७.



हर समय द्रव्यस्वभावकी अधिकता रहनी चाहिए। जैसे तिनकेकी

आड़में डूँगर (पर्वत) नहीं दिखता है, वैसे ही दृष्टि परिणाम पर रुकनेसे परिणामी ढँक जाता है। ५९९.



क्षणिकभाव व्यक्त है उसको गौण करना; और त्रिकालीभाव अव्यक्त है उसको मुख्य करना। ६०३.



['द्रव्यदृष्टिप्रकाश' भाग-१ में से उद्धृत रत्न]

प्रदेशे-प्रदेशे मैं मात्र चैतन्य-चैतन्य व आनन्द ही आनन्दसे ओत-प्रोत वस्तु हूँ। स्वरूपरचना पर्यायमें स्वतः ही हुए जा रही है। इच्छा तोड़ूँ, स्वरूपकी वृद्धि करूँ आदि विकल्पोंका जिस सहज स्वभावमें सहज ही अभाव है। अरे ! सहज शुद्धपर्यायका भी जिस त्रिकाली ध्रुववस्तुमें सहज ही अभाव है, ऐसी नित्य वस्तु मैं हूँ, त्रिकाली परिपूर्ण हूँ - ऐसी दृष्टि एकबार अवश्य-अवश्य हो जाओ - बस ! सुखसमुद्रका दरिया एकदम सहज उमड़ पड़ेगा। परके लिये विकल्प करना बेकार है। अरे ! मैं बिना किसीके ही अभी ही परिपूर्ण हूँ, एकबार ऐसी तीव्र भावना होनी चाहिए, ताकि सामान्य वस्तुके बोधका अवसर आये। 'परमें सावधानीपणा नहीं, स्वमें सावधानीपणा होना चाहिए।'

(पत्रांक-१७)



विकल्पोंमें तो जागृति सदा हेय होनी चाहिए, चाहे वह साक्षात् तीर्थकरके प्रति ही क्यों न होवे। निजद्रव्यमें अस्तित्वका निरंतर श्रद्धान व सहज अनुभव रहनेसे, सहज ही विकल्प टूटने लग जाते हैं व सहज निर्विकल्प स्वाद आने लगता है, जिसके आस्वादन किये बाद विकल्पोंका रस सहज ही ठण्डा पड़ने लग जाता है।

(पत्रांक-१८)



पर्याय ही पर्यायका कर्ता है, त्रिकाली अंश अथवा आखा द्रव्य नहीं, यह 'कर्ता-कर्म' की चरम सीमा है। अतः पर्यायमें आखा एकाकार होना योग्य नहीं। (पत्रांक-२४)



उत्कृष्ट पुण्ययोगसे, ज्ञान-आनंदकी खान अपूर्व सत्पुरुष श्री गुरुदेव निमित्तरूपे आपके समीप हैं; जिनकी निरंतर ध्वनिका संकेत उनकी ओरसे लक्ष्य हटाकर, स्वकी अंतरंग खानका लक्ष्य कराता है। जहाँसे यथार्थ न्याय सुख आदि उघड़ते रहते हैं। अतः स्वअस्तित्वमयी त्रिकाली आत्मामें पसर कर सुखास्वादन करो ! जिस स्वादके वशीभूत देवादिक प्रत्ये भी उदासीनता होने लगती है। इनमें अर्थात् परमें एकांत रस व जागृति होना स्वभावके अरसपनेका सूचक है। वर्तमानसे ही 'मैं' परिपूर्ण सुखका सागर हूँ। वर्तमानमें ही देवादिकसे अथवा इन आश्रित रागसे किंचित् लाभ नहीं, लाभ मानना ही स्वका अलाभ है। यह न्याय, तीरकी तौर बाह्य वृत्ति लक्ष्य-प्रति असर करे तो वर्तमानमें ही स्वभावोन्मुख प्रयत्न होवे।

(पत्रांक-३१)



१. स्वरूप की दृढता देवादिक प्रत्येकी वृत्तिसे निश्चय ही नहीं होती।

२. मनआश्रित (विचारपूर्वक) मान्यतासे यथार्थ अखण्डआश्रित सहज आंशिकवृत्तिका सद्भाव (उद्भव) नहीं हो सकता।

(पत्रांक-३३)



त्रिकाली अखण्ड ज्ञानानंद स्वभावमें अस्तित्वरूपी श्रद्धाकी यथार्थ व्यापकता निरंतर कायम रहे, जहाँके अनुभवमें परिणाम मात्रके

अकर्तापनेका सहज अनुभव होता रहे। परिणामका कर्ता परिणाम अंश है, ‘मैं’ त्रिकाली अंश नहीं।

इस प्रकारके एक ही समयमें परिणामका कर्ता व अकर्तापनेके अनुभवकी वृद्धि होते-होते पूर्ण ज्ञानका सहज ही अनुभव होगा, यही वांचन व विचारणा है। (पत्रांक-३४)



ज्ञानभण्डार आत्मामेंसे ज्ञान उघड़ता रहता है, शास्त्रोंसे नहीं; यह अलौकिक सिद्धान्त विचारणीय है। उत्तर क्षणमें क्या परिणाम होगा, उसका वर्तमान क्षणमें हमें ज्ञान नहीं, तो भविष्यके लिये क्यों व्यर्थकी कल्पना ? परिणामके अलावा शरीरादिककी क्रियामें तो हमारा कोई कर्तृत्व है ही नहीं। तो फिर इनके आश्रित विभावपरिणामोंका व्यर्थ क्यों बोझा लादा जाये ?

उद्देश्यका निर्णय करना सहज परन्तु उसकी प्राप्तिमें समय अधिक लगता है। यथार्थ निर्णयके बाद ही यथार्थकी प्राप्ति होती है। अनुभूति ही यथार्थ निर्णयकी निःशंकता बता सकती है। (पत्रांक-३५)



बाह्यनिमित्त व निमित्त आश्रित निजभाव से कोई भी लाभ नहीं होता है। - यह सिद्धान्त लक्ष्य में रखकर, निज त्रिकाली अपने स्थित स्वभाव में ही परिणति स्थित होती जावे, ऐसी अनुभूति प्राप्त होना श्रेयस्कर है। (पत्रांक-३८)



“निःशंक निर्णय के लिये किस प्रकार रटन, पुरुषार्थ आदि होना चाहिए” लिखा, सो अपने अस्तित्व की यथार्थ समझ में सब ही बातें गर्भित हैं। प्रमाणज्ञान का विषय नित्य व अनित्य अथवा त्रिकाली ध्रुव व क्षणिक परिणामी वस्तु एक ही साथ ‘मैं’ हूँ। दोनों

प्रकार का अनुभव एक ही समय होनेपर निःशंकता हो जाती है। संसारी (अज्ञानी) जीव को कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप मात्र परिणाम के वेदन की प्रसिद्धि है, उस ही समय त्रिकालीरूप स्व अस्तित्व की नहीं। (पत्रांक-३९)



विनयभावों का एकांत वेदन नहीं होना चाहिये। सहज सामर्थ्य में पसरने से, स्वरूप के बल से, सहज ही परिणामों में नहीं घसीटीजेंगे; वह परिणामों का वेदन, ज्ञायकभाव की मुख्यता में हेय बुद्धिए गौण (क्षणे-क्षणे) होता जायेगा। पराश्रित विनयभाव दुःखभाव है, उपादेय कैसे होवे ? (पत्रांक-४०)



पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि तुम स्वयं अक्रिय चैतन्य ढीम हो, इस अगाध सागर का सहज अनुराग करो। पराश्रित अनुराग तो एकांते दुःख है। सुखाभासी होकर इसके रस को लंबाना उचित नहीं। अपने तो एकांत सहज ज्ञान-सुख से लबालब व ठसाठस चैतन्य ढीम बनकर जमे रहो। विकल्प व निर्विकल्प जैसी भी अवस्था होवे, होने दो। (पत्रांक-४२)



अब तो सुनने-सुनाने में भी थकान मालूम होने लगे, ऐसी परिणति जागृत होनी चाहिए। सो नित्य सुखधाम स्वक्षेत्र में अडिग जमते ही उत्पन्न एकान्त सहज सुख में प्रत्यक्ष अनुभव होगा। कुछ करना-कराना नहीं है, मात्र स्व अस्तित्व में दृष्टि पसारकर एकान्ते थम्भ जाना है। ध्रुव ज्ञानान्दमूर्ति अनन्त गुणों की खान हूँ। परिणमन क्रियाएँ सहज हो रही हैं। प्रतिसमय नित्य व क्षणिक दोनों भावों का एक ही समय सहज अनुभव वर्तता रहे, ऐसा परम उपकारी

श्री गुरुदेव का वाच्य है; सो अभ्यास वर्तो। मात्र क्षणिक वेदन ही नहीं प्रतिभासो। (पत्रांक-४५)



चिन्ता अथवा राग तो स्वयं को हानिकारक है। स्व में अथवा पर में अकार्यकारी है। अतः हर समय स्वभाव-बल से सहज निषेधपूर्वक होवे तो (भी विकल्प का) फल आदरणीय नहीं हो सकता।

(पत्रांक-४७)



नित्य शुद्ध सुख-सागर के रस-प्रति वृत्ति द्वारा आस्वादन करते रहना ही हर आत्मा के लिये परम कार्य है; अन्य सर्व अकार्य हैं। जैसे भी होवे परसन्मुख रस शिथिल (क्षय) करो ! स्वसन्मुख आनंद में निरंतर लीनता यह स्थिति पूर्णपणे प्रगट कर देगी। निकट आत्मार्थी को इस हेतु बिना अन्य लक्ष्य किंचित् भी नहीं होता; वरना संसार-प्रति के दुःखों से किंचित् भी हटना नहीं हो सकता।

(पत्रांक -५१)



श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१ अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	-
०२ आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-४६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
०३ अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनामृतोंका संकलन)	१५०-००
०४ आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा)	५०-००
०५ आत्मअवलोकन	-
०६ बृहद द्रव्यसंग्रह	अनुपलब्ध
०७ द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग-पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्वचर्चा)	३०-००
०८ दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०६-००
०९ दंसणमूलो धम्मा (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
१० धन्य आराधना (श्रीमद् राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	-
११ दिशा बोध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१२ धन्य पुरुषार्थी	-
१३ धन्य अवतार	-
१४ गुरु गुण संभारणा (पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन द्वारा गुरु भक्ति)	१५-००
१५ गुरु गिरा गौरव	-
१६ जिणसासनं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०८-००
१७ कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३, ३३२, ५१०, ५२८, ५३७ एवं ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१८ कहान रत्न सरिता (परमागमसारके विभिन्न वचनामृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	३०-००
१९ मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
२० मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	-
२१ मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन)	१०-००

२२	निर्भ्रात दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
२३	परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत)	-
२४	प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
२५	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
२६	प्रवचन नवनीत (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२७	प्रवचन नवनीत (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२८	प्रवचन नवनीत (भाग-३) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ नय के खास प्रवचन)	२०-००
२९	प्रवचन नवनीत (भाग-४) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ शक्ति के खास प्रवचन)	२०-००
३०	प्रवचन सुधा (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३१	प्रवचन सुधा (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३२	प्रवचनसार	अनुपलब्ध
३३	प्रंचास्तिकाय संग्रह	अनुपलब्ध
३४	सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
३५	ज्ञानामृत (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनामृत)	-
३६	सम्यग्दर्शनके सर्वोत्तकृष्ट निवासभूत छ पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद रादचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
३७	सिद्धिपका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से पत्रांक-१४७, १९४, २००, ५११, ५६० एवं ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
३८	सुविधि दर्शन (सुविधि लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	४०-००
३९	समयसार नाटक	अनुपलब्ध
४०	समयसार कलस टीका	अनुपलब्ध
४१	समयसार	अनुपलब्ध
४२	तत्त्वानुशीलन (भाग-१,२,३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
४३	तत्थ्य	अनुपलब्ध
४४	विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृतोंका संकलन)	१०-००
४५	वचनामृत रहस्य (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके नाईरौबीमें हुए प्रवचन	२०-००

વિતરાગ સત્સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ
ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૦૧ અધ્યાત્મિકપત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૦૨ અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૦૩ આત્મયોગ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૯૬, ૪૯૧, ૬૦૮ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૦૪ અનુભવ સંજીવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વચનામૃતોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૦૫ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૧) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૬ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૨) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૭ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૩) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૮ અધ્યાત્મ પરાગ	-
૦૯ બીજું કાંઈ શોધમા પ્રત્યક્ષ સત્યુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	-
૧૦ બૃહદ્ર દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૧) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ળંગ પ્રવચનો)	-
૧૧ બૃહદ્ર દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૨) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ળંગ પ્રવચનો)	-
૧૨ ભગવાન આત્મા (દ્રષ્ટિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	-
૧૩ દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત	૦૨-૦૦
૧૪ દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ (ભાગ-૩) (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાની તત્ત્વચર્યા)	૦૪-૦૦
૧૫ દસ લક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૧૬ ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૧૭ દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પત્રાંક-૧૬૬, ૪૪૮, અને ૫૭૨ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા પ્રવચનો)	૧૦-૦૦
૧૮ ગુરુ ગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ)	૦૫-૦૦
૧૯ ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય સૌગાનીજીની અંગત દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૦ ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૧) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૧ ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૨) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૨૨	જિજ્ઞાસાસ્રણં સર્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૨૩	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૩	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) (પરમાગમસારમાંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૪	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૨) (પરમાગમસારમાંથી ક્ષમબદ્ધ પર્યાય વિષયક ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૨૫	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૧) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૬	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૨) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૭	ક્ષમબદ્ધપર્યાય	-
૨૮	મુમુક્ષતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૨૯	નિર્ભાત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૩૦	પરમાત્માપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૩૧	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત)	૧૧-૨૫
૩૨	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૩૩	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૩૪	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નવ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૩૫	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૪) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નવ શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૩૬	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૩૭	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૨) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	-
૩૮	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્યભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૩૯	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૪૦	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૪૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૨) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૮૫-૦૦
૪૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૩) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૪	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૪) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૫	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૫) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૬	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૬) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૭	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૭) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૪૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૮) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦

૪૯	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૯) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૦) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૨	પ્રવચનસાર	અનુપલબ્ધ
૫૩	પ્રચારિસ્તકાય સંગ્રહ	અનુપલબ્ધ
૫૪	પદ્મનંદીપંચવિંશતી	-
૫૫	પુરુષાર્થ સિદ્ધિ ઉપાય	અનુપલબ્ધ
૫૬	રાજ હૃદય (ભાગ-૧) (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૭	રાજ હૃદય (ભાગ-૨) (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૮	રાજ હૃદય (ભાગ-૩) (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૯	સમ્યક્જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી ક્ષુલ્લક)	૧૫-૦૦
૬૦	જ્ઞાનામૃત્ત (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃત્તો)	૦૬-૦૦
૬૧	સમ્યગ્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત છ પદનો પત્ર (શ્રીમદ્ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૨	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૮૪, ૨૦૦, ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૩	સમયસાર દોહન (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજી સ્વામીના નાઈરોબીમાં સમયસાર પરમાગમ ઉપર થયેલાં પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૬૪	સુવિધિદર્શન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત સુવિધિ લેખ ઉપર તેમનાં પ્રવચન)	૨૫-૦૦
૬૫	સ્વરૂપભાવના (શ્રીમદ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૯૧૩, ૭૧૦ અને ૮૩૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૬	સમકિતિનું બીજ (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથમાંથી સત્પુરુષની ઓળખાણ વિષયક પત્રાંક-ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૬૭	તત્વાનુશીલન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વિવિધ લેખ)	-
૬૮	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૬૯	વચનામૃત્ત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં બહેનશ્રીના વચનામૃત્ત પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૭૦	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૧)	-
૭૧	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૨)	-
૭૨	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૩)	-
૭૩	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૪)	-
૭૪	યોગસાર	અનુપલબ્ધ
૭૫	ધન્ય આરાધક	-

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	ज्ञानामृत (गुजराती)	१०,०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनंदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	६६००
२२	पुरुषार्थसिद्धिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमामगसार (गुजराती)	५०००
२८	परमामगसरा (हिन्दी)	४०००
२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२	५०००
३०	निर्भूत दर्शननी केडीए (गुजराती)	४५००
३१	निर्भूत दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७०००

३२	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३५	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३६	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३७	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३८	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
३९	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४०	प्रवचन नवनीत भाग-१-४	५८५०
४१	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	१५००
४२	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४३	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४४	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४५	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४६	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४७	भगवान आत्मा (गुजराती)	२०००
४८	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
४९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५०	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५१	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५२	बीजुं कांई शोध मा (गुजराती)	४०००
५३	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५५	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५६	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
५७	अमृत पत्र (हिन्दी)	२०००
५८	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
५९	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	२०००
६०	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६१	आत्मयोग (हिन्दी)	२०००
६२	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००
६३	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६४	ज्ञानामृत (हिन्दी)	१५००

पाठकों की नोंध के लिये